श्रीमान जुगल किशोर जी मुख्तार की

सेवामें सादर भेंट

सिंहराज

प्यारे राजा बेटा

[दूसरा भाग]

: लेखक :

रिषभदास रांका

: सम्पादक :

जमनालाल जैन, साहित्य-रत्न

भारत जैन महामण्डल, वर्धा

स्व० राजेन्द्र ग्रंथ-माला—२

प्रथम संस्करण ३००० मार्च १९५०

मूल्य— दस आने

प्रकाशक :
मूलचंद बड़जाते
सहायक मंत्री
भारत जैन महामण्डल, वर्धा

मुद्रक :
सुमन वात्स्यायन
राष्ट्रभाषा प्रेस
हिन्दीनगर, वर्धा

स म र्पि त

जिसने अपनी मृत्यु से दैहिक मुक्ति या
विश्वात्मा के प्रति साम्यभाव को
जाग्रत् कर अपने पिता को
मोह मुक्त होनेका
सबक दिया।

अनुक्रमणिका

अपनी ओर से

आदमी जन्म लेता है और मृत्यु की महा-गोद में सो जाता है। सृष्टि में यह सदा से होता आया है। लेकिन घटनाएँ हैं कि उनका इतिहास बनता है, स्मृतियाँ चलती हैं। महापुरुषों, ज्ञानियों और सन्तों ने इसे जीवन कहा है, अमरता कहा है। प्रस्तुत कहानियों का भी एक घटनात्मक इतिहास है, जिसका प्रारंभ आनन्द और उत्साह-प्रद रहा।

सन् '४२-४३ में जब श्री० राकाजी जेल में थे और उन्हें ज्ञात हुआ कि राजेंद्र को कहानियाँ सुनने, सीखने का शौक है, तब उन्होंने वहाँ पर पूज्य विनोबाजी और श्रद्धेय काका साहब कालेलकर आदि विज्ञों से चर्चा की। उन्होंने कहा, बालकों को ऐसा ही साहित्य पढ़ने को देना चाहिए जिससे वे सहज रूप से इतिहास, भूगोल, धर्म, विज्ञान आदि विषयों का ज्ञान प्राप्त कर सकें। अत. लेखक के मन में कल्पना उत्पन्न हुई और परिणाम में ये पत्र-कथाएँ लिखी गई, जिसकी संख्या करीब ५० होगी। पत्र हृदय की वस्तु होते हैं। और आत्मीय भाव से, सहज सुगमता से और सरल भाषा में लिखे होने से भीतर तक प्रविष्ट हो जाते हैं। इन कहानियों का प्रारंभ 'प्यारे राजा बेटा' से हुआ और अन्त 'रिषभदास के प्यार' में।

यों तो अब तक विविध लेखकों ने नैतिक और मनोवैज्ञानिक विकास की दृष्टि से अनेक कहानियाँ लिखी हैं; फिर भी विश्व के महापुरुषों की कथाओं के प्रति सहज विश्वास और आकर्षण के साथ, बालकों में

उनके प्रति जिज्ञासा, आदर और श्रद्धा उत्पन्न हो, इसलिए इन कहानियों में उन महापुरुषों की मानवोचित श्रेष्ठता को ध्यान में रखते हुए प्रयत्न किया गया है कि बालकों के मन पर काल-गत या देश-गत धार्मिक या साम्प्रदायिक अंध-विश्वास, कट्टरता, द्वेष अथवा ऐसा ही कोई विकारी भाव न जमने पाये। चमत्कारों और लोकोत्तर घटनाओं से भरी धार्मिक कथाओं के कारण हमारे महा पुरुष मनुष्य के स्वाभाविक रूपसे दूर पड़ते गए हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि लोग उनके अस्तित्व में ही अविश्वास करने लगे। अतः उन महा-पुरुषों के प्रति सहज समभावी वृत्ति और आदर बढ़े, और इससे बालकों का नैतिकता की ओर झुकाव हो, यह ध्यान में रखा गया है। जहाँ तक हमारा खयाल है, कहानियाँ इस उद्देश्य में प्रायः सफल हैं।

इस दूसरे भाग मे ग्यारह कहानियाँ हैं। कुछ कहानियाँ बाद मे लिखी हुई हैं। सोचा गया कि विभागानुसार संग्रह प्रकाशित किए जायँ तो पाठकों को एक धारा या श्रेणी की विविध बातें एक ही संग्रह में मिल सकेंगी। इसीलिये बाद की होने पर भी, उपयोगी समझकर कुछ महापुरुषों की कहानियाँ संग्रह में दी गई हैं। जो कहानियाँ जेल से नहीं लिखी गईं, वे उसे सुना दी गई थीं क्योंकि घर पर प्रार्थना के बाद कहानी सुनने-सुनाने की परम्परा चल पड़ी थी। इस संग्रहकी कहानियाँ पहले भाग की कथाओं की अपेक्षा कुछ बड़ी और अधिक विचार-प्रधान हैं। इन कहानियों में समय के परिवर्तन के साथ-साथ सामाजिक और आध्यात्मिक नियमों में कैसे ह्रास-विकास होता गया, इसकी ओर विशेष ध्यान रखा गया है। इस कारण बालकों को इसकी भाषा थोड़ी कठिन-सी लगेगी। किन्तु अभिभावकगण समझावेंगे तो अवश्य समझ में आ जावेगी।

मुझे इनके सम्पादन का अवसर मिला, इससे आनन्द तो हुआ, लेकिन चिन्ता भी कम नहीं रही। जो त्रुटियाँ रही हों, पाठक उन्हें मेरी समझें और उनके निवारणका अवसर दें। प्रकाशन की दिशा में प्रेरक और मार्ग-दर्शक विज्ञ तथा श्रद्धास्पद गुरु-जनों के हम कृतज्ञ हैं। वस्तुतः भदन्त आनन्द कौसल्यायनजी की प्रेरणा से ही ये कहानियाँ प्रकाश में आ सकी हैं। उनके प्रति शाब्दिक कृतज्ञता व्यक्त कर हम छुट्टी नहीं पाना चाहते। पू० विनोबाजी ने इस सग्रह पर भी कुछ वैचारिक सुझाव दिए हैं, जिनका दूसरे सस्करण में ध्यान रखा जायगा। मुख-पृष्ठ का चित्र भाई ए० जी० नन्दनवार ने बनाया है। लेकिन इसके लिए उनका 'आभार' माना जाय, इतना कम कीमती उनका 'स्नेह' नहीं है। राष्ट्रभाषा प्रेस के व्यवस्थापक श्री० सुमन वात्स्यायन भी धन्यवादार्ह हैं जिन्होंने बड़े प्रेम से और शीघ्रता से पुस्तक छाप कर दी।

पाठकोंने इन्हें अपनाया और उपयोगी समझा तो लेखक और सम्पादक अपने परिश्रम को सफल समझेंगे।

गांधी चौक, वर्धा
२२ - ३ - '५०

--सम्पादक

स्वर्गीय राजेन्द्र

'होनहार बिरवान के, होत चीकने पात' यह लोकोक्ति बड़ी तथ्य-पूर्ण है। शास्त्र-पुराणों और ऐतिहासिक घटनाओं में इसकी यथार्थता का दर्शन होता है। स्व० रा जे न्द्र भी ऐसा ही बालक था। ध्रुव, प्रह्लाद तथा अन्य भक्त बालकों की कथाएँ सहस्रों-लाखों वर्षों के व्यवधान से श्रद्धा और भक्ति की चीजें रह गईं, ताजा और प्रत्यक्ष होतीं तो वे भी कुतूहल पैदा करतीं। लेकिन आत्मा बहुत बड़ी चीज़ है। वह समय और स्थिति की सीमाओं या बाधाओं से अतीत है! प्रगति-पथ पर अग्रसर आत्मा शरीर में रहती तो है, उससे चिपट नहीं जाती। एक नहीं, दूसरे, इस प्रकार वह अपनी क्रमागत प्रगति के लिए नूतन देह भी धारण कर लेती है और कार्य पूरा होने पर देह से भी अतीत हो 'परम' तक पहुँच जाती है। शायद स्व० राजेन्द्र को भी हम इसी श्रेणी में रख सकें!

राजेन्द्र का जन्म ७ मार्च सन् १९४० को जलगाँव (पू. खा.) मे हुआ। जन्म लेते ही, उसके पिता, श्री० रिषभदास रांका के घर मे सुख-समृद्धि बढ़ने लगी। एक विशेष आनन्द और मानसिक शान्ति का वातावरण घर में निर्माण हो गया। पिता के जीवन पर कांग्रेस अथवा गांधी-विचार-धारा का प्रभाव तो था ही, परम्परागत धार्मिक संस्कार भी जीवन-शोधन में सहायक रहे। सेठ जमनालालजी बजाज की प्रेरणा से, अब यह रांका-परिवार वर्धा आ गया। पिता गो-सेवा-संघ मे अपनी सेवा देने लगे।

राजेन्द्रकुमार रांका

जन्म	मृत्यु
७ मार्च १९४०	१ सितम्बर १९४८

बजाजवाड़ी (वर्धा) के सयत और धार्मिक वातावरण तथा राष्ट्र-नेताओ के दर्शन-आशीर्वाद से राजेन्द्र के विकास मे बड़ी सहायता मिली। वह तीन वर्ष की आयु मे बाल-मन्दिर जाने लगा था।

राजेन्द्र साढ़े-तीन साल का हुआ ही था कि सन् '४२ के अगस्त मे उसके पिता कृष्ण-मदिर भेज दिये गए। १६ मास तक वह प्रत्यक्षतः पिता की संगति से दूर रहा, लेकिन परोक्ष रूप से पिताके प्रबुद्ध-प्यार ने राजेन्द्र को 'साधारणता' से बहुत ऊँचा उठा दिया।

घर मे प्रतिदिन सुबह-शाम प्रार्थनाएँ होती रहती थी। राजेन्द्र पर इन प्रार्थनाओ और भजनो का पर्याप्त असर हुआ। वह अपनी माँ की गोद में भजन सुनते-सुनते लेट जाता। उसे 'दीनन दुख हरन देव सन्तन हितकारी', 'वैष्णव जन तो तेणे कहिये', और 'प्राणी तू हरिसों डर रे' भजन तथा राष्ट्रीय-गानो मे 'जन-मन-गण' गान बहुत प्रिय था।

जेल मे पिता को जब मालूम हुआ कि राजेन्द्र को कहानियाँ सुनने का शौक है, तब वे समय-समय पर कथा-पत्र उसके नाम से भेजते रहे, जिन्हे उसकी बड़ी बहन सुनाया करती। सुनते-सुनते उसे रामायण और महाभारत के प्रमुख पात्रों की कथाएँ मालूम हो गई और बार-बार उनका स्मरण किया करता। कहानियाँ सुनते-सुनते उसकी जिज्ञासा स्वय पढ़ने की हुई, तो बड़े अक्षरो मे छपी कहानियाँ पढ़ने लगा। उसकी इस रुचि और विकास को देख कर माता-पिता का हृदय सहज प्रसन्नता से व्याप्त हो उठा। पहला पत्र जॉर्ज वॉशिंग्टन सम्बन्धी था।

पाँचवें वर्ष में उसे पढ़ाने के लिए ऐसे शिक्षक की नियुक्ति की गई जो उसे कहानियों द्वारा, पर्यटन द्वारा सामान्य ज्ञान करा सकें। ज्ञान भार-रूप न हो, इसका ध्यान रखा गया। यह उसकी पढ़ाई का व्यवस्थित प्रारम्भ था। पाठशाला में वह सातवें वर्ष मे गया और तीसरी कक्षा मे प्रविष्ट हुआ। परीक्षा में, अस्सी बालकों मे सर्वप्रथम आया! 'कल्याण' मासिक के अंकों और विशेषांकों के चित्रों ने उसके धार्मिक संस्कारों को जाग्रत करने में मदद की। उसने अपने कमरे मे एक मूर्ति को सिंदूर लगाकर प्रतिष्ठित कर लिया और नियमित रूपसे उसकी पूजा किया करता था। माता-पिता उसकी स्वतन्त्र भावना, जिज्ञासा और प्रवृत्ति मे व्याघात डालना उचित नहीं समझते थे। यही कारण है कि जितनी भक्ति उसमे पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी के प्रति थी, उतनी ही शिव, विष्णु, बुद्ध और ईसा आदि के भी प्रति। ऐसे चित्र प्रायः वह अपनी पुस्तकों मे भी रखता।

पू० विनोबाजी ने उसे अपनी 'गीताई' (गीता का मराठी पद्यानुवाद) प्रदान की। वह उसे बराबर पढ़ता था। विधायक कार्य-कर्ताओं की परिषद के समय एक बार पं० जवाहरलालजी नेहरू ने उसके सिर पर प्यार भरा हाथ फेरा तो वह बहुत प्रसन्न हुआ। बजाजवाड़ी के वातावरण मे उसने महात्माजी, पू० राजेन्द्र बाबू, राजाजी, वल्लभभाई पटेल आदि बहुत से राष्ट्र-सेवकों के दर्शन किए थे। ऐसे समय वह बड़े सहज भाव से रहता। इस तरह वह निस्संकोची हो गया था।

वह उद्दण्ड और गंदे विद्यार्थियों की संगति में नहीं रहा। उसके चाचा ने पूछा, तो कह दिया कि "मैं ऐसे लड़कों के साथ

नहीं खेलूँगा जो गन्दे रहते हैं और गालियाँ बकते रहते हैं।"उसकी मित्रता अच्छे और संस्कारी बालको से थी और उन्हे पत्र भी लिखता था।

उसके पिता ने समझा दिया था कि बाजार या हॉटेल की चीजें नहीं खानी चाहिए। एक बार ऐसा ही मौका आ गया। उसके पिता अपने दो-एक मित्रो के साथ नागपुर गये हुए थे। उससे बहुत आग्रह किया गया, किन्तु उसने हाटेल को कोई वस्तु नही खाई। अिसी तरह पटाखे आदि भी वह नही उडाता था।

एक बार महारोगी सेवा-मण्डल के व्यवस्थापक श्री मनोहर-जी ने उसके पिता से कोढ़ के संसर्ग आदि पर कुछ चर्चा की थी। उसे वह समझ गया और मौका आने पर एक सज्जन से उसने मोटर से उतरते ही कह दिया कि अपने बच्चो को नगे पैर अन्दर मत ले चलिए। उसकी अवस्थागत इस समझदारी पर सब अचरज करने लगे।

माता-पिता पर उसकी असीम भक्ति थी। उनकी आज्ञा के बिना वह कोई काम नहीं करता था। सिनेमा भी वह चाहे-जैसा नही देखता था। माता-पिता के पैर दबाने, मालिश करने, उन्हे तकलीफ न होने देने मे उसे आनन्द आता था। फिजूलखर्ची से उसे नफरत थी। घर मे जब कभी फिजूल-खर्ची होती तो उसे बडा दुख होता। उसका आहार भी बड़ा सात्विक और सयत था।

वह गाय और बछड़ो पर बहुत प्यार करता था। एक बछड़ का तो नाम ही, उसने अपने अनुरूप 'राजा' रख दिया। मृत्यु के दो घटे पूर्व उसने उसकी याद की थी।

राजनीति की मोटी-मोटी बातें उसे मालूम थी। वह अख-बार पढ़ता रहता था। बापू की हत्या से उसे बड़ा दुख हुआ था।

लेकिन ऐसे होनहार, सुशील और सुकुमार-मति बालक को, इतनी अल्पायु मे चल देना है, यह कल्पना किसने की थी ! पिता अपनी जिम्मेदारी को सोच ही रहे थे और उसकी प्रगति के साधनो को जुटा ही रहे थे कि वह तो अनहोनी कर गया !

आठ—केवल आठ—दिन की अत्यल्प बीमारी मे उसने किसी को सेवा का मौका भी नहीं दिया ! बीमारी में भी उसने जिस धीरज, शान्ति और नियमितता का परिचय दिया, आज भी उसकी स्मृति धुंधली नही हो सकी है, न हो सकती है ।

जीते-जी जिसे नहीं पहचाना जा सका, मृत्यु ने उसके भीतरी प्रकाश को प्रकट कर दिया । शायद पिछले जन्म का वह अपूर्ण-योगी, सिद्धि का पंथी होगा, जो यहाँ आया, निर्विकार रहा । योग मे रस, व्यवहार मे सावधानी का वह सजीव उदाहरण था ।

जब तक वह जीया सु-पूत की तरह आज्ञापालन और सेवा करता रहा, और जाते समय अपने माता-पिता को मोह छोड़कर संसार के बच्चो को अपना समझने का संदेश दे गया ।

वह १ सितम्बर '४८ को देह-मुक्त हुआ । इस तरह वह विश्वात्मा में व्याप्त हो गया । वह विश्व का था और विश्व मे ही उसका चिरन्तन स्थान हो सकता । वह सीमा से सीमातीत होकर परिवार को अपनी मृत्यु द्वारा मोह-मुक्ति का उपदेश दे गया । क्या इस अर्थ में वह गुरु नहीं रहा ?

ऐसे बाल-गुरु को प्रेमाञ्जलि !

: १ :

भगवान् ऋषभदेव

प्यारे राजा बेटा,

आज मैं तुम्हें भगवान् ऋषभदेव की कहानी लिख रहा हूँ। ये कितने वर्षों पहले हुए, इस बारे में इतिहास से कुछ भी पता नहीं चलता। वेद तीन हजार वर्ष प्राचीन माने जाते हैं। उनमे इनका नाम आया है। कुछ वर्षों पहले सिंध में खुदाई हुई थी। वहाँ की मिली सामग्री ५-६ हजार वर्ष पहले की बताई जाती है। उसमें जो सिक्के मिले हैं, उन पर भी ऋषभदेव का चिह्न बैल और मूर्ति पाई गई है। जो हो, माना यह जाता है कि ये सबसे पहले पुरुष थे जिन्होंने देश को कर्म और पुरुषार्थ का ज्ञान कराया। ऋषभदेवजी जैनों के प्रथम तीर्थंकर और हिन्दुओंके आठवें अवतार माने गए हैं। इनकी माता का नाम मरुदेवी और पिता का नाम नाभिराय था। ऋषभदेव को आदिनाथ भी कहते हैं। इसका यह मतलब है कि वे सबसे पहले कर्म-पुरुष हुए हैं।

ऋषभदेवजी के समय तक इस देश को भोग-भूमि कहा जाता था। यह अत्यन्त प्राचीन काल की बात है। उस समय न तो कोई समाज-व्यवस्था थी, न मानव-जीवन का कोई आदर्श था। लोग वृक्षों के नीचे रहते और सहज रूपसे बिना प्रयत्न के जो भी फल-फूल मिल जाते उनसे अपना जीवन-निर्वाह करते। बहन-भाई में विवाह होता था। कहते हैं, उस समय युगलिया पैदा होते थे

यानी माताके पेटसे बहन-भाई साथ पैदा होते थे। उस समय न शिक्षा थी न काम था। एक तरह का प्राकृतिक जीवन था। खाना, पीना और भोग भोगना ही उस समय का जीवन-क्रम था। इसीसे उस समय इस देशको भोग-भूमि कहते थे। पढ़ना-लिखना तथा अन्य कलाओ की बात तो दूर, लोग आग के उपयोग तक से अपरिचित थे।

नई-नई खोजो और आविष्कारों को देख तथा सुनकर जैसे अपने को अचरज होता है और खोज करनेवाले तथा आविष्कार करनेवाले को देखने की इच्छा होती है तथा उसके रूप और कार्य के बारेमें कई कल्पनाएँ होती हैं, उसी तरह उस समय ऋषभदेवजी की नई-नई बातें देखकर लोगोंको बड़ा आश्चर्य हुआ था। आज हमारे लिए जो चीजें बरतना तथा बनाना बहुत सरल और सुगम है उनका पहले-पहल शोध करने पर समाज मे कैसी क्रान्ति मची होगी, इसकी कल्पना भी हम नही कर सकते। कुछ वर्षों पहले रेडियो टेलीफोन को देख कर एक देहाती को जो अचरज होता था और उसके मन मे बनानेवाले के प्रति आदर पैदा होता था, यही हाल पहले-पहल खाने-पीने की चीजें बनाने, रखने आदि के आविष्कारके समय हुआ होगा।

उस समय लोग जो चीज मिलती वही खा लेते। लेकिन बढ़ती हुई जन-संख्या का काम इस तरह नहीं चल सकता था। इसलिए ऋषभदेवने खेती की शिक्षा दी। अब अनाज पैदा होने लगा। लेकिन कद-मूल और फलो की तरह कच्चा अनाज नहीं खाया जा सकता था। इसलिए उन्होने आग की मदद से पकाने की शिक्षा दी। उस समय आज की तरह दियासलाई या माचिस नहीं थी। उन्होने पत्थर से आग पैदा करना बताया। खेतीमें काम आनेवाले

औजार बनाने की कला सिखाई। आग पैदा करना बताने और आग तैयार कर लेनेसे ही काम नहीं चलता था। अनाज आग मे डालने से वह पककर तो तैयार नही हो सकता। तब उन्होने मिट्टी के बर्तन बनाना सिखाया। इस तरह मिट्टी के बर्तन बनने लगे। मिट्टीके बर्तन बनाने तथा उनसे उपयोग की कला बताने के कारण उन्हे प्रजापति कहा जाने लगा। जानते हो, प्रजापति किसे कहते है ? प्रजापति कुम्हार को कहते हैं। अपने यहाँ अभी भी यह प्रथा है कि विवाह के अवसर पर कुम्हार को आदर से याद की जाती और उसके नये बर्तन खरीद कर पूजा की जाती है। व्यव-स्थित जीवन बर्तनो से ही प्रारंभ होता है।

खेती के लिए बैल से बढ़कर उपयोगी पशु कोई नहीं होता। इसलिए सोच-विचार कर उन्होने खेती के लिए बैल को चुना और लोगो को गो-पालन का महत्त्व बताया। उनके नाममें जो 'ऋषभ' शब्द है, उसका अर्थ भी बैल होता है। वे सचमुच बैलोके स्वामी थे। इसलिए उनका चिह्न भी तो बैल ही है।

लोगो को जंगलके हिंसक जानवरो से रक्षा करने में बहुत कठिनाई होती थी। हमेशा उनका जीवन भयभीत और शंकित रहता था। इसलिए ऋषभदेव ने रक्षा के लिए हथियारों अथवा शस्त्रों के बनाने और उनके उपयोग की शिक्षा दी। मकान और गाँव बसाना तथा रहना सिखाया। कहा जाता है कि अयोध्या नगरी उन्ही की बसाई हुई थी।

केवल शरीर के पोषण और रक्षण में ही जीवन की सार्थ-कता नहीं है। वे जानते थे कि मानव के विकास और आपसी मेल-

जीत के लिए विद्या का भी बहुत बड़ा स्थान है। इसलिए उन्होंने लिपि की खोज की और इसका सर्वप्रथम परिचय उन्होंने अपनी पुत्री ब्राह्मी को दिया। इसलिए यह लिपि ब्राह्मी-लिपि के नाम से देश में प्रसिद्ध हुई। आजकल यह लिपि नहीं चलती, किन्तु दो हज़ार वर्ष पहले के शिलालेखों तथा प्राचीन मुद्राओं में वह पाई जाती है। इतिहास और पुरातत्त्व के कुछ विद्वान् ब्राह्मी लिपि को समझते हैं। मोहेनजोदड़ो तथा हड़प्पा के सिक्कों में यह लिपि मिली है।

अब तुम ही सोचो, ऐसी सर्वतोमुखी खोज करनेवाला पुरुष कितना कर्म-शील रहा होगा, उसे कितना सोचना पड़ा होगा और कितने प्रयोग करने पड़े होंगे। लोगोंका विरोध भी कम नहीं हुआ होगा। लेकिन वे तो लोक-सेवक थे, लोक-सेवा करना ही उनका उद्देश्य था। वे तो मनुष्यके जीवनमें कर्म और पुरुषार्थ को प्रतिष्ठित कर देना चाहते थे। उन्होने जंगली जीवन से मनुष्य को ऊँचा उठाकर विकसित करने की कोशिश की।

इस तरह उन्होंने मानव-समाज में बहुत बड़ी क्रांति की और समाज-व्यवस्था के नियम बनाकर लोगों को उनके कर्तव्य सिखाए। कर्म-योग का पाठ पढ़ाया। लेकिन उनकी सार्थकता और पूर्णता इतने ही में पूरी नहीं होती। वह चीज़ तो आगे आती है जिससे वे महान् और पूज्य कहलाए। जनता ने उपकार का ऋण चुकाने के लिए उन्हें अपना मुखिया बनाया। उनका राज्याभिषेक किया। वे राजा बने। उनके सौ पुत्र और दो पुत्रियाँ थीं। जीवन सुखमें बीत रहा था। लेकिन ऐसे महान् खोजी को जो चीज़ सामने रखनी थी वह यह थी कि केवल गृहस्थी के कामों में ही

जीवन की पूर्णता नहीं है। शरीर के अन्दर जो आत्मा है, चेतना है, उसका विकास कर परमात्मा बनना। उसके लिए सब कुछ त्याग कर आत्म-चिन्तन में लगना।

यह सोच उन्होंने अपने जेठे पुत्र भरत को राज सौंपा और आप संसार त्याग कर साधु बन गए। महीनों तक निराहारी रहकर कठोर साधना से उन्होंने पूर्णत्व प्राप्त किया। घर छोड़ने पर जब उन्होंने महीनो बाद सबसे पहले आहार ग्रहण किया उस दिन वैशाख सुदी ३ का दिन था। यह पहला आहार श्रेयांस राजा के यहाँ हुआ था। महीनों के उपवास के कारण वे अन्न तो ग्रहण कर नहीं सकते थे। उन्हें गन्ने का रस ही पिलाया गया। उनके आहार ग्रहण से लोगो को बहुत खुशी हुई थी। इस वैशाख सुदी ३ को अक्षय-तृतीया कहते हैं। जैनी लोग इस आहार की पवित्र स्मृति में त्यौहार के रूपमें यह तिथि मानते हैं। गन्ने को इक्षु कहते हैं। इसलिए पहले यह दिन इक्षु-तृतीया कहलाता था। इक्षु से अब अक्षय तृतीया कहलाने लगा।

इसके बाद उन्होंने लोगोंको धर्मोपदेश किया। धर्मोपदेश में उन्होंने संन्यास-धर्म की श्रेष्ठता और आत्म-कल्याण का प्रतिपादन किया। इस तरह गृहस्थ-जीवन में कर्म-योग और संन्यास जीवन से आत्म-साधना का समन्वय साधनेवाले महापुरुष ऋषभदेवजी को लोग अधिक-से-अधिक मानें और आदर दे, इसमें अचरज की कोई बात नहीं।

केवल घर-गृहस्थी के कामों से ही जीवन में शांति नहीं आती। इसलिए गृहस्थी के कामों को निभाने पर एक समय ऐसा भी आता है जब घर-बार को छोड़ना जरूरी हो जाता है। नहीं तो

गृहस्थी मे ही फँसे रहने और उसीमें लीन हो जाने से आत्मा की उन्नति कठिन हो जाती है।

देखो न, अपने बापू भी तो ऐसा ही करते रहे हैं। क्षेत्र और काल भले ही बदल गये हो, लेकिन भावना तो यही रही कि अच्छे कामो में भी आसक्ति नही रखना चाहिए। अफ्रीका से भारत लौटने पर उन्होने साबरमतीमे अपना आश्रम स्थापित किया। वह कितना फला-फूला इसे सन् १९३० के पहले देखनेवाले जानते हैं। लेकिन उसे त्याग कर वे सेवाग्राम आ गए।

महापुरुषो के जीवन मे एक खास विशेषता होती है। वह यह कि वे कभी बुरे काम करते ही नहीं, बल्कि अच्छे कामो में भी मोह नही रखते। उनसे चिपटकर नहीं बैठते। योग्य समय आने पर उनको भी त्याग देते हैं। और इस तरह वे अपना इतना विकास कर लेते है कि वे अपने-आप मे ही सच्चा सुख का अनुभव करते है। उन्हे बाहरी किसी चीज या साधन की जरूरत नही होती। यही पूर्णता है। यह प्राप्त होने पर आत्मा परमात्मा बन जाता है। ऐसी पूर्णता का जब वे लोगो को मार्ग बताते हैं, ज्ञान देते हैं तब लोग उन्हे तीर्थंकर या अवतार कहते हैं। ससार मे ऐसे महापुरुष बुराइयाँ दूर करने के लिए आते हैं।

यह पत्र कुछ कठिन हो गया है। समझने की कोशिश करोगे तो कोई कठिनाई नही होगी। प्रयत्न करो।

— रिषभदास के प्यार

—

: २ :

भगवान् नेमिनाथ

प्यारे राजा बेटा,

तुमने भगवान् श्रीकृष्ण का नाम तो सुना ही है। आज उन्हींके समय के एक महान् ब्रह्मचारी और चचेर भाई भगवान् नेमिनाथ की कथा लिख रहा हूँ। यह करीब ५ हजार वर्ष पहले की बात है। इस समय बाहर से आए हुए आर्य लोग यहाँ बस गए थे और उनका भारत के मूल-निवसियो या आदिवासियों के साथ सम्बंध स्थापित हो गया था। जिनमे पारस्परिक विवाह आदि होने लगे थे।

आर्य गोरे थे और आदिवासी काले। आर्य लोग विविध देशों का प्रवास करते हुए यहाँ आए थे। प्रवास काल में उनका अनेक लोगो से सम्पर्क आया था। इससे उन्हें देश-देशांतरों की विविध बातें सीखने को मिली थीं। लेकिन यहाँ के मूल-निवासी भी कोई असभ्य नहीं थे। इनके भी बड़े-बड़े शहर थे। भारतीयों की प्राचीन सभ्यता के चिह्न हड़प्पा और मोहेनजोदड़ो की खुदाई मे मिले हैं। इससे पता लगता है कि यहाँ के लोग भी सभ्य थे।

यहाँ के लोग खेती करते थे। इसके लिए उनका प्यारा साथी गो-वंश था। लेकिन आर्य लोग प्रायः मांसाहारी थे। इनके

लिए गो-वंश का उतना महत्त्व नहीं था। आर्य लोग बाहर से आए थे और आदिवासियों पर सत्ता स्थापित करना चाहते थे। इस लिए कुछ समय तक दोनो मे संघर्ष चला, लेकिन फिर धीरे-धीरे दोनो में समन्वय होने लगा। वे भी गो-वंश के महत्त्व को समझने लगे। आर्यों में उत्साह था, आदिवासियो में विचार; जिसका आगे चलकर समन्वय हुआ।

यहाँ के आदिवासियों की मान्यता थी कि मनुष्य को जो भी सुख-दुख भोगना पड़ता है, वह सब उसके किए हुए कर्मो का परिणाम ही होता है। अच्छे कार्य का अच्छा और बुरे का बुरा परिणाम भोगना ही पड़ता है। ये कर्म और परिणाम किसी एक ही जन्म के नहीं, बल्कि पहले के और आने वाले कई जन्मो के भी हो सकते हैं अर्थात् आदिवासी यानी यहाँ के लोग पुनर्जन्म को मानते थे और आत्म-विकास के लिए तपस्या करते थे। उन्हें श्रमण कहा जाता था।

आर्य लोग प्रकृति-पूजक थे। उनका बलिदान, मांसाहार और देवों को नैवेद्य समर्पण आदि मे विश्वास था। आदिवासियो की संगति से इनमें भी परिवर्तन हुआ और यज्ञ में होनेवाली पशु-हिंसा बंद हो चली। दोनो के मेल-जोल से एक ऐसी कर्म और विचार-परम्परा सामने आई जिसे श्रीकृष्ण ने प्रारंभ करते हुए कर्म-योग नाम दिया। यों कहें कि आदिवासियो की विचार-प्रणाली आर्यों के शब्दो मे भर दी गई। परिश्रम करना, निष्काम कर्म करना यज्ञ कहलाने लगा और उसमे से पशु-हिंसा का भाव निकल गया।

आदि-वासी मानते थे कि गृहस्थ-जीवन के सुखोपभोग में ही मानव-जीवन की संपूर्णता और सार्थकता नहीं है। इससे आगे एक अवस्था और है जिसे संन्यास या योग कहते हैं। आदमी इस अवस्था पर पहुँचकर, कुटुम्ब की सीमा तोड़कर सारे मानव-जगत् में प्रेम-मय हो जाता है; फिर भी निर्विकार रहता है। इस अवस्था पर पहुँचा आदमी जन-सेवा करते हुए आत्म-कल्याण भी करता है। फिर भी बहुत-से लोग सुख भोगने को ही सब कुछ मानते थे। छोटी-छोटी टोलियों के स्थानपर राज्य बनने लगे थे। प्रजा चार वर्गों में बँट गई थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ग थे। पहला वर्ग था ब्राह्मण अर्थात् ज्ञानी। इसका काम लोगों को ज्ञान देना था। ये लोग बड़े त्यागी और तेजस्वी होते थे। दूसरे थे क्षत्रिय जो शक्ति के उपासक थे। इनका काम प्रजाका संरक्षण करना था। ये वीर होते थे। इनके हाथमें सत्ता थी और ये अपने सुखोपभोग के लिए सत्ता बढ़ाते जा रहे थे। जहाँ सत्ता और शक्ति होती है, वहाँ आराम और अहंकार भी आ जाता है। क्षत्रिय लोग विलासी बनते चले। ये लोग बहु-विवाह भी करते थे। राजा की तो कई रानियाँ होती थीं। पुराणों में तो एक-एक राजाके हजारों रानियाँ होने का उल्लेख मिलता है।

ऐसे समय में भगवान् नेमिनाथ ने राजकुल में जन्म लिया। वे बचपन से ही बुद्धिमान् और तेजस्वी थे। श्रीकृष्णने आर्य और आदिवासियों की विचार-धारा में समन्वय लानेका प्रयत्न किया, लेकिन वे राजसी ठाठ, ऐशोआराम तथा अनेक स्त्रियोंके साथ रहने की परम्परा में परिवर्तन नहीं कर सके थे। भगवान् नेमिनाथ को लगा कि इस तरह जनता का हित नहीं होगा। भोग और योग

एक साथ नहीं चल सकते। विचार करने पर उन्हें मालूम हुआ कि एक-पत्नी-व्रत से ही समाजका कल्याण होगा। इससे आदमी को आत्म-चिन्तन का अवसर मिलेगा और लोग कर्त्तव्य-शील बन सकेंगे। स्वयं अपने बारेमें तो उनका विचार था कि वे अविवाहित ही रहेंगे।

भगवान् नेमिनाथ ने इसके अतिरिक्त एक बहुत बड़ा काम और किया था। यद्यपि यज्ञ में पशु-बलि हेय या निन्द्य मानी जाने लगी थी, तथापि भोजन में मांस का सेवन प्रचलित था। मांस खाने का रिवाज बंद नहीं हो सका था। इसे चालू रखने में राज-कुल के लोगों तथा क्षत्रिय लोगों का बड़ा हाथ था। ये लोग ऐशो-आरामी और बिना परिश्रम के जीवन बितानेवाले थे। इस कार्य को बुराई और पाप की दृष्टि से देखनेवाले श्रीकृष्ण और नेमिनाथ थे। इन्होंने भरसक प्रयत्न किया कि किसी भी तरह यह रिवाज दूर हो और लोग कृषि करके, परिश्रम करके निरामिष-आहार द्वारा जीवन बिताएँ।

लेकिन तुम जानते हो, बुराई को दूर करने के लिए बहुत बड़ा त्याग करना पड़ता है कभी-कभी तो जान पर भी खेलना पड़ता है। जो जनता के सच्चे हितैषी होते हैं, जो जन-सेवा को अपना श्रेष्ठ व्रत समझते है; वे अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी परोपकार के कार्य कर जाते हैं। तो, मांसाहार की बुराई या पाप से जनता को मुक्त करने में यादव-कुलके इन दो महारथियों ने बहुत बड़ा त्याग और कार्य किया।

मांसका सेवन लोग शरीर-स्वास्थ्य के लिए करते थे। यादव-कुल में मांस के प्रति तिरस्कार था। आखिर इन्होंने प्रयोग करके

सिद्ध किया कि मांस से भी अधिक शक्ति दूध में है। गो-पालन द्वारा उन्होंने दूध, गाय, कृषि, परिश्रम और मेल-जोल का महत्त्व प्रजा के सामने रखा। यादव लोग क्षत्रिय थे; किन्तु जन-हितकारी समझकर वैश्योंके इस गो-पालन उद्योग को भी उन्होंने अपनाया।

तुम अचरज में होगे कि आज यह कैसी कहानी पढ़ रहा हूँ कि भगवान् नेमिनाथ का तो परिचय ही नहीं आ रहा है। ऊपर जिन दो बुराइयों का उल्लेख किया है—एक तो एक आदमी का कई स्त्रियोंसे विवाह करना और दूसरे मांसाहार—उनके विरुद्ध नेमिनाथ ने अपने जीवन का क्या उपयोग किया, यह नीचेकी उनके जीवन की घटना से मालूम होगा।

भगवान् नेमिनाथ के पिता का नाम समुद्रविजय था। ये बचपन से ही बहुत बुद्धिमान् और बलशाली थे। श्रीकृष्ण इनके चचेरे भाई थे। इनका कुल यादव-कुल कहलाता था। इनके कुल मे प्रायः सभी लोग सच्चरित्र और विद्वान् हुए हैं। श्रीकृष्ण तो बचपन में जरा नटखट थे, विनोदी और खिलाड़ी थे, लेकिन नेमिनाथ हमेशा कुछ-न-कुछ सोचा करते थे। ये सदा गंभीर और विचार मग्न रहते थे।

समय आगे बढ़ता जा रहा था और श्री नेमिकुमार भी अब तरुण हो चले थे। परिवार में विवाह की चर्चा चलने पर उन्होंने विवाह करने से इन्कार कर दिया। लेकिन तुम जानते हो, अकेले आदमी की इच्छा परिवार में प्रायः काम नहीं आती। घरके

बड़े-बूढ़ की इच्छा अपने बेटो को विवाहित देखने की होती ही है। उस समय यादव-कुलमें श्रीकृष्ण बड़े चतुर और प्रमुख थे। उन्होंने खबर पाते ही उन्हे विवाह के लिए तैयार करने की अनेक युक्तियाँ सोच निकालीं। पहले तो श्रीकृष्ण ने काफी समझाया, लेकिन जब नेमिनाथ नहीं ही माने तब उन्होने अपनी रानियो को उद्यान में वसन्तोत्सव मनाने का आदेश किया और कहा कि उसमें नेमिकुमार को ले जाकर रिझाया जाय और विवाह को तैयार किया जाय।

उपवन की पुष्करिणी में भाभियों ने नेमिनाथ को घेर लिया और नाना तरह से उन्हे विवाह के लिए राजी करने के लिए कहने लगी। लेकिन नेमिनाथ बिलकुल मौन रहे। भाभियो के हाव-भावोंपर केवल मुसकराते रहे। इधर इन्होने इस मुसकराहट को नेमिनाथ की स्वीकृति समझ लिया। अब कन्या की शोध की गई।

राजा उग्रसेन की कन्या राजुलमती से उनका विवाह निश्चित हुआ। राजुलकुमारी पढ़ी-लिखी और बुद्धिमती कन्या थी। नेमिनाथ के प्रति उसका सहज आकर्षण था। वह भी योग्य वर पा अपने मन में प्रसन्न थी।

योग्य मुहूर्त पर बारात निकली। यादव-कुल की बारात थी और संचालक थे श्रीकृष्ण। बारात खूब अच्छी तरह सजाई गई थी। अनेक राजागण इसमें सम्मिलित हुए थे। उधर बारात के स्वागत-सत्कार के लिए राजा उग्रसेन ने भी बहुत तैयारियाँ की थीं। उस समय मांसाहार का प्रचार तो था ही। बारात के सैकड़ों लोगोंके

आतिथ्य-सत्कार के लिए कई पशु एक बाड़े में बंद कर दिए गए थे। उस समय मांसाहार की मेजमानी एक तरह की शान समझी जाती थी। जब उस बाड़े के नजदीक से नेमिकुँवर का रथ निकला तब पशुओं का करुण-रोदन सुनकर उन्होंने अपने सारथी से पूछा कि "ये सब पशु यहाँ क्यों जमा किए गए हैं ?"

"कुमार, बारात की मेजमानी के लिए यहाँ जमा किए गए हैं !"

सुनकर नेमिकुमार का दया-पूर्ण हृदय करुणा से भर आया। उनकी आँखें छलछला आईं। उनसे उन मूक पशुओं की चीत्कार सुनी नहीं गई। उन्होने तत्काल अपने सारथी से कहा "रथ वापस लौटाओ। मैं आगे नहीं बढ़ूँगा। मेरे लिए इन सैकड़ों पशुओ का विनाश ! नहीं, यह नहीं हो सकता।"

अब नेमिनाथ मुड़ चले सो मुड़ ही चले। परिवार के लोगों ने, बारातियों ने और राजा उग्रसेन ने भी बहुत समझाया और एक-पर-एक आश्वासन दिये कि सब बारातियों के लिए निरामिष भोजन ही बनेगा। विवाह कर लीजिए। लेकिन नेमिनाथ तो लोगों को शिक्षा देना चाहते थे। वे सारे क्षत्रियों की आँखें खोलना चाहते थे। केवल इसी बार पशुओ की रक्षा करके क्षत्रिय थोड़े ही अपने रिवाज में अंतर करनेवाले थे। नेमिनाथ तो चाहते थे कि आगे से यह प्रथा ही नष्ट हो जाय। जिसके लिये कोई विशेष घटना ही सबकी आँखें खोल सकती थी। नेमिनाथ लौटे और गिरनार पर्वत पर चढ़ गए। वहाँ उन्होंने मुनि-दीक्षा ले ली। वे साधु हो गए—श्रमण हो गए। इसके बिना अपने विचारों का प्रचार वे नहीं कर सकते थे। जिस

साधना मे एक बड़ा तत्त्व यह था कि नेमिनाथ जहाँ भी भोजन के लिए जाते, वहाँ निरामिष भोजन आवश्यक होता। जिस तरह वे जहाँ-जहाँ भी गए, वहाँ का वातावरण निरामिष होता गया।

श्रीकृष्ण ज्ञानी थे। वे नेमिकुमार के मन की बात ताड़ गए। उन्होंने अपने यादव-बन्धुओं को नेमिकुमार की साधना की बात समझाई। यादवों ने नेमिकुमार की दीक्षा का महोत्सव किया। अब नेमिकुमार ससार त्याग कर आत्म-साधना मे लग गए और आत्म-ज्ञान प्राप्त कर जनता को सत्पथ बतलाया। बहुविवाह और मांसाहार के विरुद्ध विचार फैलाने मे उन्होंने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इसीलिए उन्हे तीर्थंकर कहा गया। तीर्थंकर यानी धर्म का मार्ग बतानेवाले महापुरुष। वे गुजरात, काठियावाड यानी सौराष्ट्र मे ही विचरण करते रहे और अन्त मे गिरनार पर्वत पर ही उनका निर्वाण हुआ। गिरनार पर्वत पर जैनो के और दूसरे लोगो के भी सुन्दर-सुन्दर मदिर है।

हिन्दुस्तान के दूसरे भागो की अपेक्षा गुजरात और काठिया-वाड़ मे अभी भी अधिकतर लोग निरामिषभोजी और शांति-प्रिय हैं। यह सब भगवान नेमिनाथ के प्रभाव का परिणाम है। इस भावना को बढाने वाले समय-समय पर और भी कई राजा और साधु हो गए है। सम्राट कुमारपाल और हेमचद्राचार्य का नाम इस विषय मे उल्लेखनीय है।

जब नेमिकुमार गिरनार पर चढ गए तब राजुलमती ने भी उसी मार्ग का अनुसरण किया। उसे अनेक तरह से समझाया गया कि अभी तो उसका विवाह भी नही हुआ है, किसी दूसरे राज-

कुमार से विवाह कर दिया जायगा। लेकिन वह तो नेमिकुमार की थी। उन्हींको उसने अपने-आपको समर्पित कर दिया था। उसने साफ कह दिया कि जिस बात के लिए उन्होंने यह व्रत ग्रहण किया है, उसीमें मेरा भी हित है और मै इसमें उनका साथ ही दूँगी। उसका प्रेम सच्चा प्रेम था। वह आत्म-कल्याण के पथ पर बढ चली। राजुलकुमारी के त्याग, साहस और तपस्या पर कई लेखकों और कवियों ने अपनी श्रद्धांजलियाँ अर्पित की हैं।

नेमिकुमार अब नेमिनाथ थे। बेटा, संसार में मानव जाति के विकास और अभ्युदय के लिए ऐसे अनगिनत महापुरुष हो गए हैं, जिन्होने अपने अनुभव और ज्ञान से परिस्थितियों को देखकर नए-नए प्रयोगो द्वारा जनता को सच्चा रास्ता दिखाया है।

हमें इन सब महापुरुषो के जीवन से बहुत कुछ सीखने को मिलता है और हमें ये सीखे प्राप्त करने की कोशिश करने रहना चाहिए।

—रिषभदास के प्यार

: ३ :

भगवान् श्रीकृष्ण

प्यारे राजा बेटा,

तुमने भगवान् श्रीकृष्ण की बहुत बातें सुनी हैं। आज उन्ही के बारे में कुछ लिख रहा हूं।

श्रीकृष्ण का जन्म मथुरा के जेल मे हुआ था। मथुरा में उस समय कस का राज्य था। वह श्रीकृष्ण का मामा था और बहुत दुष्ट तथा अत्याचारी भी। कस अपने पिता को गद्दी से उतारकर खुद गद्दी पर बैठ गया और प्रजा पर तरह-तरह के अत्याचार करने लगा। अपनी बहन देवकी और बहनोई वसुदेव को भी उसने जेल मे बन्द कर दिया। जिस दिन श्रीकृष्ण का जन्म हुआ, उस दिन अष्टमी थी। दक्षिण तथा गुजरातवाले इसे सावन बदी कहते हैं और उत्तरवाले भादो बदी। यह एक मास का अन्तर कहने भर का है। इसे सब समझते हैं, इसलिए तिथि सम्बन्धी कोई अड़चन नहीं होती। दक्षिणवाले महीने की शुरूआत सुदी यानी शुक्ल-पक्ष से मानते हैं और उत्तरवाले बदी यानी कृष्ण पक्ष से। शुक्ल-पक्ष सब का एक ही होता है। तो भादो बदी या सावन बदी अष्टमी को कृष्णाष्टमी कहते है। तुम देखते हो न कि इस कृष्णाष्टमी को जगह-जगह कितना उत्सव मनाया जाता है। अपने-अपने बच्चों की वर्ष-गाँठ तो कई माता-पिता मनाते हैं, लेकिन ऐसे बहुत ही कम

होते हैं जिनका जन्मोत्सव सारा देश मनावे। जो जितना ज्यादा लोक-सेवक, लोकोपकारी होता है, उतने ही ज्यादा लोग उसका जन्मोत्सव मनाते हैं। श्रीकृष्ण सचमुच महान् जन-सेवक थे। उन्होंने लोगों पर महान् उपकार किए थे।

श्रीकृष्ण का जन्म आधी रात को हुआ था। कहते हैं, श्रीकृष्ण के पहले कंसने वसुदेवजी के छः बच्चों को मार डाला था क्योंकि किसी ऋषि या ज्ञानी से उसे मालूम हो गया था कि वसुदेव का आठवाँ पुत्र उसका नाश करेगा। इसलिए वह अपनी बहन के प्रत्येक बच्चे को जन्मते ही मरवा डालता। सातवीं बार गर्भ गिर गया। श्रीकृष्ण आठवें पुत्र थे। श्रीकृष्ण का जन्म रात को हुआ, इसलिए किसीको मालूम नहीं हो सका और वसुदेवजीने अपने साथ श्रीकृष्ण को जमुना नदी के उस पार वृन्दावन के मुख्य गोप नंदजी के यहाँ ले गए।

मथुरा युक्त प्रान्त के पश्चिमी भाग में है। अपने यहाँ से जो ग्रंड ट्रंक एक्सप्रेस दिल्ली जाती है, उसके रास्ते में दिल्ली के पहले बड़ा स्टेशन मथुरा ही है। अपने यहाँ से २४ घण्टेका रास्ता है और करीब सात सौ मील पड़ता है। ग्रंड ट्रंक एक्सप्रेस अपने देश में बहुत लम्बी चलनेवाली गाड़ी है। यह मद्रास और दिल्ली के बीच चलती है। मथुरा जमुना नदी के किनारे पर बसा है। यह बहुत पुराना स्थान है। नदी की दूसरी तरफ वृन्दावन है। यहाँ 'कंकाली टीला' बहुत प्रसिद्ध है। यहाँपर बहुत ही प्राचीन जैन और बौद्ध मूर्तियाँ तथा मन्दिरों के अवशेष और लेख मिले हैं। इनसे भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की बहुत कुछ जानकारी मिलती है।

जमुना नदी तथा प्राचीन धार्मिक परम्परा के कारण मथुरा आज भी धर्म-क्षेत्र के रूप में पूजा जाता है। शहर में जमुना के घाटपर बहुत बड़े-बड़े वैष्णव मन्दिर हैं।

•

बचपन में श्रीकृष्ण बड़े नटखट थे। उन्हे दूध, दही तथा मक्खन खाने में बड़ा मजा आता था। खेलते-खेलते वे जिसके यहाँ भी चले जाते, मक्खन खानेको तैयार रहते थे। इस-लिए वे शक्तिशाली भी थे। बड़े-बड़े साहस के काम करने मे वे नहीं घबराते थे। दरअसल मे गोरस पृथ्वी का अमृत है। कृष्ण मक्खन अकेले नहीं खाते थे, सब ग्वाल-बालो को भी खिलाते थे।

कुछ बड़े होते ही वे अपने ग्वाल साथियो के साथ वृन्दावन के जंगलो में गाएँ चराने जाने लगे थे। गाय से उन्हे बहुत प्रेम था। गायों का दुहना, बाँधना, खेलना, उनके आगे घास डालना, नहलाना वे स्वयं किया करते थे। तुम पूछोगे कि यह काम तो वे अपने नौकर-चाकरो से भी करवा सकते थे, इतना छोटा काम इन्होने क्यो किया ?

नहीं, यह बात नहीं है। वे बड़े बुद्धिमान् थे। आज जैसे हम किसी मूर्ख पर चिढ़कर कह देते है कि अगर नहीं पढ़ोगे तो गाएँ चराना पड़ेगा, वैसे उनके बारेमें नही कह सकते। उस समय मांस खाने का बहुत रिवाज था। अपने लिए दूसरे प्राणियो को मारकर उनके मांस से पेट भरना महान् पाप है, क्योकि दूसरे प्राणियो मे भी अपनी तरह जीव होता है। उन्होने सोचा कि गाय ऐसा पशु

है कि उसकी सहायता से लोगों का मांस खाना छूट सकता है। गाय हमें बैल और खाद देकर अनाज ज्यादा पैदा करने में बड़ी मदद करती है; दूध, घी, दही से शरीर को आरोग्य और शक्ति देती है। इसलिए अहिंसा और प्रेम की मूर्ति गाय को 'माँ' मानकर उन्होंने उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाई—लोगोंके आगे उसका आदर्श रखा। बड़े लोग केवल उपदेश देकर ही चुप नहीं हो जाते, अपने हाथों कार्य करके रास्ता सुगम कर देते हैं। श्रीकृष्णके कारण ही आज अपने यहाँ गो-वंश की इतनी पूजा-प्रतिष्ठा है।

गाय चराने जब वे जंगल जाते तब वहाँ बाँसुरी इतनी सुन्दर बजाते कि उनके सारे ग्वाल-साथी मुग्ध हो जाते। गाँव की गोपियाँ घर का काम छोड़कर बंशी की तान सुनने लगती थीं। इतना ही नहीं, उनकी मधुर बंशी से गाएँ तथा पशु-पक्षी तक डोलने लगते थे। व्रज भाषा के परम कृष्ण-भक्त कवि सूरदासजी ने श्रीकृष्ण के बाल्य-जीवन और मुरली आदि के बारे में बहुत-सारे पद लिखे हैं। उनके पदों में श्रीकृष्ण का सच्चा और मधुर स्वरूप दिखाई देता है। बाँसुरी बाँस की बनती है। इसके बनाने में एक पैसा भी खर्च नहीं होता। बाँसकी बनने के कारण ही उसे बाँसुरी कहते हैं।

वे बड़े निडर थे। जमुना नदी में एक भयंकर साँप था, जिससे लोग बहुत दुखी थे। मौका देखकर वे नदी में कूद गए और उसे अपने वश में कर लिया। कुश्ती खेलनेमें भी वे बड़े पटु थे। उन्होंने अनेक मल्लों और पहलवानों को हराकर प्रजा को भय-मुक्त किया था। कृष्ण पर लोगोंके बढ़ते हुए प्रेम को देखकर

कंस बहुत घबराया। उसे शंका होने लगी कि कहीं यह लोगों की सहायता से मुझे पराजित न कर दे। कंस ने किसी उपाय से कृष्ण को मरवा डालने का विचार किया। उसने अपने अक्रूर नामक एक मल्ल या दूत को भेजकर कृष्ण को बुलाया कि मल्ल-युद्ध मे भाग लो। एक-एक करके श्रीकृष्ण ने सब मल्लो को खत्म कर दिया। अब कंस की बारी आई तो कृष्ण ने उसे भी मार डाला। कंस के मरनेपर श्रीकृष्ण ने अपने नाना उग्रसेन को जेल से निकालकर मथुरा का राज्य सौंप दिया। अपने माता-पिता के दर्शन करके श्रीकृष्ण अब मथुरा ही रहने लगे। जब वृन्दावन नहीं लौटे तो वहाँ के सब लोग उनके सखा-साथी, गोपिकाएँ तथा गाएँ आदि बहुत खिन्न और उदास रहने लगे। काम तो जैसे-के-तैसे चलते थे लेकिन सारे ही वन-उपवन सूने-सूने-से दिखाई देने लगे। वृन्दावन के पालन-पोषण करनेवाले श्रीकृष्ण के पिता नन्द और माता यशोदा थीं। यशोदा तो इतनी दुखी हो गईं कि खाना-पीना तक भूल बैठीं। एक बार उनके आग्रहसे नन्द श्रीकृष्ण को लिवानेके लिए मथुरा गए भी, लेकिन कार्य की अधिकता से श्रीकृष्ण नहीं लौट सके।

कस के श्वसुर का नाम जरासंध था, जो मगध का सम्राट था। जब उसे मालूम हुआ कि उसका जॅवाई कंस मारा गया है तब मथुरा पर उसने चढ़ाई कर दी। श्रीकृष्ण ने उसे पराजित तो कर दिया, लेकिन वह बार-बार बड़ी सेनाएँ भेजकर श्रीकृष्ण को परेशान करने लगा। आखिर जब वह श्रीकृष्ण से तंग आ गया तो उसने हिन्दुस्तान के बाहर के कालयवन नामक राजा की सहायता माँगी। अपने देशमे विदेशी को नहीं आने देनेके विचार से श्रीकृष्ण

अपने कुटुम्बियों के साथ सौराष्ट्र चले गए और जूनागढ़ के पास द्वारिका में राजधानी स्थापित करके रहने लगे।

कौरव और पाण्डव का नाम तो तुमने सुना ही है। ये एक ही वंश के भाई-भाई थे। कौरव सौ भाई थे और पाण्डव पाँच। इनमें आपसमें काफी वैर था। श्रीकृष्ण ने पाण्डवों को कम और साधन-हीन समझकर उनकी पूरी मदद की और अर्जुन की पत्नी द्रौपदी को अपनी बहन माना था। पाण्डवों के यहाँ कृष्ण ने जूठी पत्तलें तक उठाई। एक बार जब पाण्डव जुए में कौरवों से हार गए और द्रौपदी की लाज जाने लगी, तब कृष्ण ने ही उसकी रक्षा की थी।

आदमी जब धनिक या ज्ञानी बन जाता है, तब उसमें अहंकार आ जाता है। वह अपनी पुरानी बातें भूल जाता है, दीन-दुखियों का तिरस्कार करने लगता है। लेकिन श्रीकृष्ण ऐसे नहीं थे। शक्तिशाली, बुद्धिमान् तथा राजा बन जाने पर भी वे गरीबों, दुखियों की सेवा करने के लिए सदा तैयार रहते थे। 'सुदामा' नामक एक निर्धन ब्राह्मण उनके बचपन के सहपाठी थे। वे जन्मभर दरिद्र ही रहे। जब वे श्रीकृष्ण के पास पहुँचे तो चौकीदारों ने उनके सिरपर पगड़ी, शरीर में अँगरखा आदि कुछ न देखकर अन्दर जाने से रोक दिया। लेकिन जब श्रीकृष्ण को मालूम हुआ कि सुदामा आए हैं तब वे स्वयं आसन से उठकर लेने आए। श्रीकृष्ण ने उनका अच्छा आदर-सत्कार किया। उनकी दरिद्रता दूर कर दी। सचमुच श्रीकृष्ण महान् थे, जो बड़ों की बड़ाई और छोटों की छोटाई दूर करते थे। उन्होंने सुदामा के मुट्ठी भर चावल बड़े प्रेम से स्वीकार किए थे।

कौरवों और पाण्डवों में जब भयंकर लड़ाई हुई तब कौरवों की ओर से दुर्योधन और पाण्डवों की ओर से अर्जुन श्रीकृष्ण के पास मदद के लिए पहुँचे। सारी स्थिति का विचार कर उन्होंने पाण्डवो का ही साथ दिया। यह लड़ाई बहुत भयानक थी। इसे महाभारत कहा गया है। १७ या १८ दिन के इस महाभारत में हजारो योद्धा वीर-गति को प्राप्त हुए। यह युद्ध कुरुक्षेत्र मे हुआ था, जो आजकल दिल्ली-इन्द्रप्रस्थ के पास है। लड़ाई शुरू होने के पहले दोनों ओर की सेना को देखकर और अपने विरोधी पक्ष की तरफ भी अपने ही भाइयो तथा गुरु जनो को देखकर अर्जुन के मन मे मोह पैदा हो गया कि क्या यह लड़ाई ठीक है ? अपने ही भाइयो, परिजनों को मारना कोई वीरता नहीं है। अर्जुन की यह हालत देखकर श्रीकृष्ण ने जो उपदेश दिया वह 'गीता' के नाम से प्रसिद्ध है। गीता के उपदेश मे श्रीकृष्ण ने निष्काम कर्मयोग की शिक्षा दी है। गाधीजी ने इसे 'अनासक्ति योग' कहा है। दोनो का अर्थ एक ही है। उनके उपदेश का सार यह है कि दुनिया मे कोई भी अच्छा काम छोटा या बड़ा नही है। किसी भी काम में राग, द्वेष या अहकार की भावना नही रखनी चाहिए। हमेशा अच्छे काम करते रहना चाहिए। लेकिन उसके साथ किसी तरह का स्वार्थ या आसक्ति नही रखनी चाहिए। यह उनके आचरण से प्रकट होता है कि उन्होने गाएँ चराई, जूठी पत्तलें उठाई, घोड़े का खरहरा किया और बताया कि छोटा काम करने से कोई छोटा नहीं होता पर स्वार्थ के लिए या अज्ञानवश दूसरों को कष्ट देने से आदमी नीच या छोटा होता है।

यज्ञ के बारे में उन्होंने कहा कि अपनी इन्द्रियों के संयम और लोगों की भलाई के काम में किसी भी तरह के फल की आशा न रखने का नाम यज्ञ है। यज्ञ का तो सीधा अर्थ जन-सेवा है। बापू ने यही अर्थ समझाया है।

जब-जब संसार में अन्याय, अत्याचार, स्वार्थ, पाप, हिंसा, झूठ और व्यभिचार बढ़ते हैं, तब कोई महान् आत्मा जन्म लेकर लोगों को धर्म का रास्ता बताता है। इसे भगवान्, तीर्थंकर आदि कहते हैं। अब से चार-पाँच हजार वर्ष के पहले श्रीकृष्ण ने जनता को धर्म का, सेवा का, आत्मशुद्धि का सच्चा रास्ता बतलाया था। इसीलिए वे भगवान् की तरह हर घर में पूजे जाते हैं।

यों तो भगवान् श्रीकृष्ण के जन्म की इतनी बातें हैं कि एक बड़ी-सी किताब बन सकती है। कहते हैं, महात्मा सूरदासजी ने भगवान् श्रीकृष्ण पर लगभग ६ लाख पद लिखे हैं। मिले तो अभी केवल ४-५ हजार ही हैं, लेकिन वे इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि पढ़ते-पढ़ते आदमी आनन्द-विभोर हो जाता है। जिस प्रकार रामचंद्रजी पर रामायण लिखकर तुलसीदासजी अमर हो गए, उसी तरह भगवान् श्रीकृष्ण पर लिखकर सूरदासजी अमर हो गए। तुलसीदासजी अवधी भाषा के कवि थे और सूरदासजी ब्रज भाषा के। मथुरा के आस-पासका प्रदेश ब्रज कहलाता है। यहाँ की बोली ब्रज कहलाती है। इसमें बहुत अधिक साहित्य भगवान् श्रीकृष्ण पर लिखा मिलता है। रसखान जैसे मुसलमान भक्तों ने भी कृष्ण, वृन्दावन, जमुना, मुरली, नंद, यशोदा, गाएँ, कुंज, गली आदि के सम्बन्ध में बहुत पद लिखे हैं।

बड़े होने पर, जब महाभारत तथा हिन्दी कवियों के पद पढ़ोगे, तब तुम्हें नई-नई बातें जानने को मिलेंगी। आज इतना ही काफी है।

श्रीकृष्ण सचमुच कर्म-पुरुष थे। जैन मान्यतानुसार वे नारायण थे। आगे जाकर वे तीर्थंकर होंगे। हिन्दुओं के वे अवतार माने जाते हैं। अिस तरह वे सब के पूज्य हैं।

—रिषभदास के प्यार

: ४ :

धर्मराज युधिष्ठिर

प्यारे राजा बेटा,

तुमने पाण्डवों का नाम तो सुना ही है। कौरव और पाण्डव भाई-भाई थे। अिनमें बड़ा भारी युद्ध हुआ था जो 'महाभारत' के नाम से प्रसिद्ध है। वह युद्ध इतना भयंकर था कि करीब पाँच हजार वर्ष बीतने पर आज भी उसकी कल्पना दिमाग से दूर नहीं हो रही है। महात्मा व्यासजी ने तो अेक ग्रंथ ही कौरव और पाण्डव के जीवन तथा उस युद्ध पर लिख दिया। वह भी महाभारत के नाम से प्रसिद्ध है। महाभारत ग्रंथ में एक लाख श्लोक हैं और संस्कृत में लिखा गया है। अब तो महाभारत की छोटी-छोटी कहानी-पुस्तकें खूब निकल चुकी हैं।

पाण्डव पाँच भाई थे। राजा पाण्डु के पुत्र होने से ये पाण्डव कहलाए। पहले के जमाने में माता-पिता के नाम पर वंश स्थापित होते थे। देश के नाम पर भी वंश बनते थे। इन पाँचों भाइयों में युधिष्ठिर जेठे (बड़े) थे। यों तो इन पाँचों भाइयों को अपने चचेरे कौरव भाइयों से बहुत कष्ट सहने पड़े और वर्षों तक वन-वन में भटकना पड़ा है, किन्तु युधिष्ठिर ने अधर्म से रहना स्वीकार नहीं किया, किसी के साथ छल-कपट नहीं किया। इस

कहानी में मैं तुम्हें युधिष्ठिर के सम्बन्ध में ही कुछ बतलाऊँगा। इससे तुम जान सकोगे कि युधिष्ठिर कितने ऊँचे धर्मराज थे।

बचपन मे बालक जिन सस्कारों मे पलता और बढ़ता है, बड़ा होने पर वे ही संस्कार-बीज उनके व्यवहार में उतरते हैं। खेती में भी तुम देखते हो कि जैसा बीज बोया जाता है, मिट्टी, हवा, पानी का संयोग पाकर वह वैसा ही फल देता है। पपीते और करेले के बीज एक ही जमीन में और एक ही समय बोने पर भी तथा समान रूप से हवा-पानी मिलने पर भी पपीते का फल मीठा और करेले का कडुवा होता है। इसी तरह जिनमें सद्‌गुणो के बीज होते है वे समय आने पर सद्‌गुण ही बताते है और दुष्ट दुष्टता ही बताते हैं। कौरव १०० भाई थे। सबसे बड़े का नाम सुयोधन था। युधिष्ठिर और सुयोधन की पढ़ाई एक ही गुरु श्री द्रोणाचार्य के निकट हुई थी। भीष्म, विदुर, कृष्ण आदि ज्ञानी और श्रेष्ठ पुरुषो की संगति भी समान रूप से इन्हे मिली थी, लेकिन युधिष्ठिर और सुयोधन के जीवन मे जमीन-आसमान का अन्तर था। युधिष्ठिर धर्मराज कहलाए और सुयोधन दुर्योधन।

युधिष्ठिर जब पढ़ने योग्य हुए तब उन्हें गुरु द्रोणाचार्य के आश्रम में भेजा गया। उस समय आज-जैसी स्कूलें नहीं थीं। तब तो छात्रो को जंगलवासी ऋषि-मुनियों के पास जाकर विद्याध्ययन करना पड़ता था। पहले बालको को कंठाग्र विद्या पढ़ाई जाती थी। युधिष्ठिर कुशाग्र बुद्धि छात्र थे। वे गुरु के पास बड़ी श्रद्धा और भक्ति से पढ़ते थे। उस आश्रम मे दुर्योधन आदि दूसरे भी कई छात्र थे।

युधिष्ठिर को जो भी पाठ दिया जाता, उसे वह बड़ी जल्दी और चतुराई से याद कर लेते थे। लेकिन एक दिन गुरु द्रोणाचार्य ने सत्य का पाठ छात्रों को पढ़ाया और कहा कि सत्य के श्लोक याद करके दूसरे दिन सुनाना। श्लोक सरल थे, अतः सब छात्रोंने उन्हें जल्दी याद कर लिया।

दूसरे दिन गुरु ने सब छात्रों से श्लोक सुनाने को कहा। एक-एक करके सब छात्रों ने श्लोक सुना दिए। छात्रों की योग्यता देखकर गुरु प्रसन्न दिखाई दे रहे थे। लेकिन जब युधिष्ठिर का नम्बर आया तो गुरु अचरज में पड़ गए। गुरु ने एक बार पूछा, दो बार पूछा; इस तरह तीन-चार बार पूछा, लेकिन युधिष्ठिर बिलकुल मौन खड़े रहे। वे कोई उत्तर नहीं दे रहे थे। आखिर जब गुरुने कहा— "बेटा, तुम तो बड़े योग्य छात्र हो। क्या तुमसे ये श्लोक भी याद न हो सके?"

"नहीं हो सके गुरुजी!"

"क्यों, किसी दूसरे काम में लग गए थे क्या?"

"नहीं, मैंने इन्हीं श्लोकों को याद करने में कल बहुत समय बिताया। नदी-किनारे भी गया। उपवन में भी फिरा। लेकिन वे श्लोक ठीक तरह याद नहीं हो रहे थे! और मुझे ऐसा लगता है कि इस पाठ को पढ़ने में काफी समय लगेगा।"

"आज तुम कैसी बात कर रहे हो युधिष्ठिर?"

"मैं बिलकुल सच कह रहा हूँ गुरुवर! सत्य का पाठ बड़ा कठिन है।"

"तो फिर इन सबने कैसे याद कर लिया ?"

"दूसरो की बात मैं नही जानता गुरुजी ! लेकिन आपसे पढ़ा हुआ पाठ जीवन में उतारने के लिए है, और यही कठिन बात है।"

यह उत्तर सुनकर गुरु समझ गए कि युधिष्ठिर कितना समझदार छात्र है। वे बहुत प्रसन्न हुए। पहले तो सब छात्र युधिष्ठिर के मौन पर हँसने लगे। लेकिन उस उत्तर से वे भी अचरज में पड़ गए।

यही बात थी कि युधिष्ठिर की सत्यता जीवन की चीज़ बन गई। लोग उनकी बात को मानने लगे। वे अपने जीवन में असत्य से बचे रहे। यही कारण है कि युधिष्ठिर का नाम लेते ही 'सत्य' भी स्मरण हो आता है। इस से यह शिक्षा मिलती है कि हम जो कुछ सीखें-पढ़ें या करें, वह केवल बाहरी दिखावा या किताबी ज्ञान ही नहीं होना चाहिए। हम जो बोलें, उसे पहले जीवन में उतार लें तो ही उस बोलने की प्रतिष्ठा हो सकती है। हम लोग सत्य की बातें तो बढ़-बढ़ कर करते हैं, लेकिन झूठ भी कम नहीं बोलते। जिनसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं होता, उन छोटी-छोटी बातों में भी झूठ बोला करते हैं। इस आदत से सबको बचना चाहिए। जिसके बारे में लोग यह समझ लेते हैं कि यह झूठ ही बोलता है तो फिर कभी सत्य बोलने पर भी उसका विश्वास नहीं करते। झूठ की आदत पड़ने से सच बोलने में मुश्किल मालूम होती है, लेकिन सच बोलना ही ज्यादा आसान है। जो बात जैसी हो, उसे वैसी कहने की अपेक्षा बनाकर कहना ही ज्यादा कठिन है।

दुर्योधन के छल-कपट से पाँचों पाण्डवों को दो बार वन-वास करना पड़ा था। पहली बार तो दुर्योधन ने इन्हें लाख के मकान में ठहराकर बाहर से आग लगा दी थी, तब उन्हें सुरंग के रास्ते छिपे-छिपे निकल जाना पड़ा था। प्रवास में कई तरह के अनुभव प्राप्त होते हैं, लोगों के साथ सम्पर्क बढ़ता है। पहले प्रवास में वे पांचाल देश (यानी उत्तर हिन्दुस्तान का हिमालय से सटा हुआ हिस्सा) की तरफ निकल गए थे। वहाँ राजा द्रुपद का राज्य था। उनकी एक कन्या थी। उसका नाम द्रौपदी था और उसे पांचाली भी कहते थे। द्रौपदी नाम पिता के कारण और पांचाली देश के कारण रखा गया था। उसके स्वयंवर की तैयारियाँ हो रही थीं।

पहले भारत में स्वयंवर की प्रथा थी। कन्या अपने पति का चुनाव स्वयं करती थी। इसमें कुछ शर्तें भी होती थीं। जो व्यक्ति शर्तों को पूरी कर सकता था या जिसे कन्या पसंद करती थी, उसके गले में वह वर-माला डाल देती थी। यह प्रथा आजकल अपने यहाँ नहीं रही। स्वयंवर यों एक अच्छी प्रथा थी। शर्तों के जरिये तो वर की योग्यता की जाँच हो जाती थी और कन्या को मनचाहा जीवन-साथी मिल जाता था। लेकिन धीरे-धीरे इस प्रथा में भी बुराइयाँ आ गईं। जिन्हें निराश होना पड़ता था वे उससे ईर्ष्या करते थे, जिसे वर चुन लिया जाता था और फिर आपस में संघर्ष भी होते थे। सो, रिवाज तो समय के अनुसार बदलते ही रहते हैं। बेसमझ या अविचारक लोग प्रथाओं को ही धर्म मान लेते हैं, और उनको पालने में पूरी सावधानी बरतते हैं।

हाँ, तो द्रौपदी का स्वयंवर था। राजा द्रुपद की शर्त थी कि नीचे देखते हुए, यन्त्र के ऊपर टँगे हुए कपड़े को जो अपने बाण से बेध सकेगा, उसी के साथ द्रौपदी का विवाह किया जायगा। बहुत से राजा और योद्धा इसमे सफल नहीं हो सके। लेकिन अर्जुन ने घूमते हुए यन्त्र को चीर कर वस्त्र गिरा दिया। अर्जुन युधिष्ठिर के छोटे भाई थे और धनुविद्या मे निष्णात थे।

विवाह करके लौटने पर पाण्डवो को आधा राज्य दे दिया गया। वहाँ वे इन्द्रप्रस्थ नामक नगर बसाकर रहने लगे। ये पाँचो भाई मिलकर रहते थे, इसलिए इनमे साहस बहुत था। इन्होने शक्ति के बल पर कई राजाओ को अपने वश मे कर लिया। बाद मे इन्होने एक बड़ा भारी राजसूय यज्ञ किया। सचमुच एकता मे बहुत शक्ति होती है।

इस यज्ञ मे देश-देशान्तरो के अनेक राजा आए थे। श्रीकृष्ण भी इस सभा मे थे। वे मनुष्य-हृदय के बड़े पारखी थे। हँसी-हँसी में उन्होने दुर्योधन से पूछा—

"अच्छा दुर्योधन, यह तो बताओ, इन सब राजाओ में कोई भला आदमी भी है?"

दुर्योधन को अपने ऊपर बड़ा अभिमान था। वह अपने से अधिक बुद्धिमान, सुन्दर और वीर किसी को नही समझता था। उसने झटसे उत्तर दिया— "मुझे तो इनमे कोई भी भला आदमी नही दिखाई देता।"

फिर श्रीकृष्णने यही प्रश्न युधिष्ठिर से इस तरह पूछा—"युधिष्ठिर! इनमें कोई बुरा आदमी हो तो बतलाओ!"

प्रश्न सुनकर युधिष्ठिर विचार में पड़ गए। लेकिन युधिष्ठिर घबराये नहीं। उनकी वृत्ति विनम्र, शान्त और गुणग्राही थी। उन्होंने जीवन में सत्य को उतारा था। उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति को ध्यान से देखना शुरू किया और उनके गुण-दोषों का हिसाब लगाने लगे। जब उन्होने सबके गुण-दोषोंका विचार किया तो उन्हें मालूम हुआ कि सबमें अवगुणों की अपेक्षा गुण ही अधिक हैं। इसलिए उन्होने श्रीकृष्ण से कहा—

"भाई, इनमें तो मुझे एक भी बुरा आदमी नहीं दिखाई दे रहा है।"

बताओ, इन दोनों उत्तरों से तुम क्या समझे? सच बात तो यह है कि जो जैसा होता है, उसे सारा जग वैसा ही लगता है। दुष्ट को सारा जगत् ही दुष्ट लगता है, झूठे को झूठा, अविश्वासी को अविश्वस्त और सच्चे को सच्चा, विश्वासी को प्रामाणिक तथा सज्जन को सज्जन। इससे एक बात की यह भी शिक्षा मिलती है कि आदमी को सदा गुणों को ग्रहण करने तथा देखनेवाला होना चाहिए। इससे उसका भला तो होता ही है, दूसरे भी उसे चाहते हैं। संसार में एकदम बुरा कोई नहीं होता। बुरे में भी गुण होते ही हैं। फिर किसीके अवगुणों को देखने से लाभ भी क्या? अगर अवगुणों का विचार करना हो तो अपने ही अवगुणों का करना चाहिए ताकि दूसरों के गुणों के प्रकाश में वे दूर किए जा सकें।

यज्ञ पूरा होने पर मुनि वेदव्यासजी ने युधिष्ठिर से कहा—

"धर्मराज, मैं राजाओं का जो आचार-विचार देख रहा हूँ, उससे तो ऐसा लगता है कि क्षत्रियोंका विनाश-काल निकट ही है। आप-जैसे धर्मात्माओं को भी कष्ट सहने पड़ेंगे। यह तो ठीक है कि आदमी अपने पापो का फल भोगेगा, लेकिन बात यहीं तक नहीं रहती। एक आदमी के पाप का असर समाज पर भी होता है और समाज को भी उसके पाप का फल भोगना पड़ता है। ये कुछ लोग जो पाप कर रहे हैं, उससे इनका तो पतन होगा ही, लेकिन प्रजा को भी कष्ट उठाने पड़ेंगे। क्षत्रिय लोग मदोन्मत्त हो गए है। उनमें अहंकार बढ़ गया है। वे अधर्माचरण करने लगे हैं। यह सब विनाश के लक्षण हैं। इसे टाला नही जा सकता। तुमसे मेरा निवेदन है कि अपनी इन्द्रियो को वश मे रखो और लोगो से सावधानी से बरतो।"

महर्षि व्यास की बात सुनकर युधिष्ठिर विचारमें पड़ गए। व्यासजी ज्ञानी थे। उनकी प्रतिभा और आत्मा इतनी तीव्र और उज्ज्वल थी कि वे भविष्य की घटनाओं का भी अंदाज लगा लेते थे। उनकी बातें सार-पूर्ण होती थी। इसलिए युधिष्ठिर चुप नहीं रह सकते थे। वे अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक हो गए। उन्होंने अपने क्षत्रिय बंधुओं को बचाने के विविध उपाय सोचे। सबसे पहले उन्होंने अपने बारे में निर्णय किया कि मैं अपने बंधुओं से कभी ऐसी बात नहीं करूँगा जिससे आपसी तनाव या बैर बढ़े। झगड़े का मूल क्रोध है। क्रोध को मैं अपने पास तक नहीं

आने दूँगा। कौरवों की बात भी नहीं टालूँगा। किसी को नाराज नहीं करूँगा।

लेकिन चारों तरफ अनाचार इतना अधिक फैल रहा था कि धर्मराज के प्रयत्नों का कोई असर समाज पर नहीं हुआ। ईर्ष्या के कारण दुर्योधन स्वस्थ नहीं बैठ सका। पांडवों को संकट में डालने के विविध उपाय वह सोच ही रहा था। आखिर उसने कुमंत्रणा की और युधिष्ठिर को जुए के लिए आमंत्रित किया। युधिष्ठिर दुर्योधन के आमंत्रण को अस्वीकार न कर सके। दुर्योधन ने शकुनि की मदद से युधिष्ठिर को हरा दिया। जुआ इतना भारी खेला गया कि राज-पाट, धन-सम्पत्ति ही नहीं, युधिष्ठिर द्रौपदी को भी दाँव पर लगा बैठे। दुर्योधन और दुःशासन आदि भाइयोंने भरी सभा में द्रौपदी का अपमान किया। कुल की स्त्रियों का अपमान विनाश का लक्षण है। आदमी जब अहंकार के वशीभूत हो जाता है, तब वह अपने कर्त्तव्य को भी भूल जाता है। राजसत्ता के मद में तथा जीत की खुशी में मस्त कौरवों ने अपने तथा साथियों के विनाश के बीज बोए। भीष्म और विदुर की सलाह से धृतराष्ट्र ने पांडवों को उनका राज्य लौटा दिया और द्रौपदी को भी पांडवों के पास पहुँचा दिया गया। लेकिन फिर से एक बार जुआ खेलने की स्वीकृति दुर्योधन ने ले ली और अब यह तय हुआ कि हारनेवाले को बारह वर्ष तक वनवास में अज्ञातरूप से रहना होगा।

फिर से जुआ खेला गया। इस बार भी युधिष्ठिर हार गए। अब पाण्डवों को वनवास के लिए निकल जाना पड़ा। वनवास में

भी पाण्डवों को कष्ट देने में दुर्योधन ने कोई कसर नहीं रखी। पाण्डवों के विनाश के कई प्रयत्न किए, लेकिन वह उनका कुछ भी बिगाड़ न सका। इस वनवास में पाण्डवों को काफी सीखने को मिला। तरह-तरह के अनुभव मिले।

पाण्डव एक जंगल से दूसरे जंगल घूमते ही रहते थे। एक बार उन्हें प्यास लगी। नकुल सरोवर पर जल लेने गए। उस सरोवर पर एक यक्ष रहता था। वह उस सरोवर का मालिक या रक्षक था। वह जिज्ञासु था। उसकी शर्त यह थी कि जो उसके प्रश्नो का उत्तर देगा, वही यहाँ से जल पा सकेगा। नकुल, सहदेव, भीम आदि कोई भी उसके प्रश्नो का उत्तर नही दे सके। आखिर धर्मराज युधिष्ठिर वहाँ पहुँचे। उन्होने उसके प्रश्नो का बहुत सुन्दर उत्तर दिया। वे प्रश्नोत्तर बहुत ही सारपूर्ण और यथार्थ है। वे आज भी हमारे काम के हैं, इसलिए कुछ प्रश्नोत्तर यहाँ लिखता हूँ।

प्रश्न—मनुष्य का कौन सदा साथ देता है?
उत्तर—धीरज ही मनुष्य का सदा साथ देता है।

प्र०—कौनसा ऐसा शास्त्र (विद्या) है जिसके अध्ययन से मनुष्य बुद्धिमान् बनता है?

उ०—शास्त्र तो ऐसा कोई भी नहीं है, किन्तु सत्पुरुषों की संगति से ही मनुष्य बुद्धिमान् बनता है।

प्र०—भूमि से भी भारी चीज कौन-सी है?

उ०—माता भूमि से भी भारी है, जो सन्तान को कोख मे धरती है।

प्र०—आकाश से भी ऊँचा कौन होता है ?

उ०—पिता आकाश से भी ऊँचा होता है।

प्र०—हवा से भी तेज चाल किसकी है ?

उ०—मन की चाल हवा से भी तेज होती है।

प्र०—घास-फूस से भी तुच्छ क्या है ?

उ०—चिन्ता घास-फूस से भी तुच्छ है।

प्र०—विदेश जानेवाले का मित्र कौन होता है ?

उ०—विदेश जानेवाले का मित्र विद्या ही है।

प्र०—मौत के समय का साथी कौन है ?

उ०—दान मौत के समय का साथी है।

प्र०—सुख कैसे मिलता है ?

उ०—शील और सदाचार से ही सुख मिलता है ?

प्र०—क्या छूटने पर मनुष्य लोक-प्रिय बनता है ?

उ०—अहंकार से पैदा होनेवाले अभिमान के दूर होने पर।

प्र०—क्या नष्ट हो जाने पर दुख नहीं होता ?

उ०—क्रोध के नष्ट हो जाने पर दुख नहीं होता।

प्र०—किस चीज को खोकर मनुष्य धनी बनता है ?

उ०—लालच को खोकर आदमी धनी बनता है।

प्र०—किसी का ब्राह्मण होना किस बात पर निर्भर है ? जन्म पर, शील-स्वभाव पर या विद्या पर ?

उ०—ब्राह्मण होना शील-स्वभाव पर निर्भर है। चाहे कितना ही पढ़ा-लिखा हो और ब्राह्मण कुल में भी जन्मा हो, लेकिन जो दुराचारी है वह ब्राह्मण नहीं कहला सकता।

प्र०—संसार में सबसे बड़ा अचरज क्या है ?

उ०—आँखों के सामने कितने ही प्राणियों को मरते देखकर और खुद क्षण-क्षण में मृत्यु के मुँह में जाता हुआ मनुष्य अपने-आपको अमर मानकर कीमती समय को व्यर्थ गँवाता रहता है, यही सबसे बड़ा अचरज है।

प्र०—किस मार्ग पर चलने से कल्याण होता है ?

उ०—जिस रास्ते से सत्पुरुष लोग गए हैं, उस पर चलने से कल्याण ही होता है।

प्र०—सच्चा सुखी कौन है ?

उ०—जो किसी का कर्जदार नहीं है, वही सच्चा सुखी है।

प्र०—सबसे सुन्दर कथा कौन-सी है ?

उ०—मोह में डूबकर दुःख पानेवालों के चरित्रों को देखना ही सुन्दर कथा है।

अपने प्रश्नों के इस तरह उत्तर पाकर यक्ष बहुत खुश हुआ। उसने सबको पानी ही नहीं पिलाया, बल्कि उनकी रक्षा का भी वचन दिया।

बारह वर्ष तक वनवास में रहने के बाद पाण्डव एक वर्ष तक विराट के यहाँ अज्ञातवास में रहे। अज्ञातवास पूरा होने पर जब उन्होंने कौरवों से अपना आधा राज्य माँगा, तब उन्होंने सूई की नोक के बराबर भूमि देने से भी इन्कार कर दिया। सुलह के बहुत प्रयत्न किए गए, लेकिन सुलह नहीं हुई और अन्त में महाभारत का भयानक युद्ध हुआ। यह युद्ध १७-१८ दिन तक चला।

जिसमें प्रायः सभी वीरोंने भाग लिया था। श्रीकृष्ण ने पांडवों का साथ दिया था। आखिर कौरवों का विनाश होकर रहा। लेकिन इन सब बातों को इस छोटी कहानी में लिखना आवश्यक नहीं है।

युद्ध समाप्त होने पर पांडवों ने ३६ वर्ष तक राज्य किया। इनके बहुत-से सगे-सम्बन्धी और साथी युद्ध में काम आ चुके थे। बचे हुओं में से भी कई आपसी झगड़ों में मर-खप गए। पांडवों के सबसे योग्य साथी और सहायक श्रीकृष्ण भी संसार से चल बसे। यह सब देखकर पांडवों को वैराग्य हो गया। अब पाँचों पांडवों और द्रौपदी ने हिमालय का रास्ता लिया। रास्ते में एक-एक करके भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव मरते गए। द्रौपदी भी मर गई। केवल धर्मराज रह गए। इनके साथ एक कुत्ता था। इस कुत्ते ने धर्मराज का अनेक कष्टों में साथ दिया था। यह भी धर्मराज के साथ ही था।

अन्त में जब देवों का विमान धर्मराज को लेने के लिए आया और उन्हें ले जाने लगा तब उन्होंने कहा कि "मेरे साथ यह कुत्ता भी स्वर्ग चलेगा। "देवों ने यह स्वीकार नहीं किया। तब धर्म-राज ने कहा कि" यदि यह कुत्ता नहीं जा सकता तो मैं भी नहीं चल सकूँगा। छोटा हो या बड़ा, तुच्छ हो या महान्, अपने साथी को मैं नहीं छोड़ सकता।"

संसारमें ऐसे धर्मराज बहुत कम होते हैं।

— रिषभदास के प्यार

:५:

भगवान् पार्श्वनाथ

प्यारे राजा बेटा,

इसके पहले तुम भगवान् नेमिनाथ की कहानी पढ़ चुके हो। आज से करीब तीन हजार वर्ष पूर्व और भगवान् नेमिनाथ के करीब डेढ़-दो हजार वर्ष बाद भगवान् पार्श्वनाथ हुए हैं। वे महावीर स्वामी के २५० वर्ष पहले हो गए हैं।

भगवान् नेमिनाथ ने सन्यास या श्रमण-धर्म पर जोर दिया था, यह तुम पढ चुके हो। उनके त्याग और तपस्या के प्रति जनता आकर्षित हो गई थी और सन्यासियों की सख्या बढ रही थी। सासारिक मोह माया का त्याग कर साधु जीवन बिताना अच्छी चीज मानी जाती थी और उसे आदर की दृष्टि से देखा जाता था। जनता भावना के वशीभूत होकर साधुओं की पूजा भी करने लगी। आदर और पूज्यता मिलती देख सैकड़ो कठोर तपस्वी होने लगे।

लेकिन हर-एक बात की सीमा होती है। सीमा पर पहुँचकर हर बात मे बुराई पैदा हो जाती है। धीरे-धीरे तपस्या मे से आत्म कल्याण की भावना तो निकल गई, रह गया केवल काय-क्लेश यानी देह-दण्डन। अनेक तरह से शरीर को तपाना, कष्ट देना ही तपस्या रह गई। इस तरह शरीर कष्ट के सम्बन्ध मे जिसे जो बात

आवश्यक लगी, उस उसने अपना सम्प्रदाय स्थापित कर लिया। एक सम्प्रदाय जटा बढ़ाता तो दूसरा सिर में एक भी बाल नहीं रहने देता। कोई सम्प्रदाय वस्त्र पहनने पर जोर देता, कोई आधे वस्त्रों पर और कोई बिलकुल नग्न रहना आवश्यक मानता। कोई अपने चारों ओर आग चेताकर शरीर का शोषण करता तो कोई कड़ाके की ठण्डी में नदी-किनारे ध्यान लगाता। एकने सीधे खड़े रह कर ध्यान करना आवश्यक माना तो दूसरे ने उल्टे लटकने में कल्याण समझा। उस समय तपस्वियों में आराम की दृष्टि तो नहीं थी, किन्तु कौन किससे अधिक कठोर तपस्या करता है, इसकी होड़-सी लगी थी।

किन्तु इस तरह के शरीर-दण्ड में विवेक नहीं था। इसीलिए भगवान् पार्श्वनाथ ने अपने ज्ञान से लोगों को सच्ची तपस्या का अर्थ समझाया।

पार्श्वनाथ का जन्म वाराणसी (बनारस) में हुआ था, बनारस को पहले वाराणसी कहते थे। महावीर स्वामी के समय में उसे काशी कहते थे। अब भी काशी कहते हैं। वाराणसी नाम दो नदियों के कारण पड़ा है। वहाँ वारा और असी नामक दो नदियाँ बहती हैं।

वाराणसी संत महात्माओं की भूमि रही है। वहाँ सदा से ज्ञानियों का निवास रहा है। अनेक धर्मों के साधु वहाँ रहकर ज्ञान प्राप्त करते, ज्ञान दान करते और समाधि भी प्राप्त करते थे। आज भी बनारस भारतीय धार्मिक परम्परा का स्थान माना जाता है। आज भी वहाँ संस्कृत के अनेकों प्रकांड विद्वान् बसते हैं। जो लोग

प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहते हैं वे बनारस जाते हैं। इसी युग में महामना मालवीयजी ने वहाँ हिन्दू-विश्व-विद्यालय स्थापित किया है। इस विश्व-विद्यालय से संस्कृत, अंग्रेजी आदि के हजारों विद्वान् प्रतिवर्ष निकलते हैं। सचमुच बनारस प्राचीन भारतीय संस्कृति का प्रमुख केन्द्र है।

संस्कृति का अर्थ है दूसरो के प्रति अच्छा और साफ-शुद्ध व्यवहार और ऐसे ही सुलझे विचारों की परम्परा।

इसी पुण्य और पवित्र नगरी वाराणसी में राजा अश्वसेन के यहाँ पार्श्वकुमार का जन्म हुआ। इनकी माता का नाम वामादेवी था। इन्हे अचिरादेवी भी कहा जाता है। वाराणसी के विद्वत्ता और धर्म-पूर्ण वातावरण में पार्श्वकुमार दूज के चाँद की तरह बढ़ने लगे। उनके परिवार का वातावरण भी बड़ा शांत और पवित्र था। वे बचपन से ही विशेष समझदार और विचारक थे। साधु-सन्तो का सहवास उन्हे सहज ही मिल गया था।

एक समय अपने महल के झरोखे में बैठे-बैठे उन्होंने देखा कि अनेक नर-नारी पूजा की सामग्री लेकर जंगल की ओर जा रहे हैं। अपने सेवक से पूछने पर उन्हे मालूम हुआ कि गाँव के बाहर एक नामी-गिरामी तपस्वी आए हुए हैं जो बड़े चमत्कारी, कठोर तपस्वी और बालब्रह्मचारी हैं। उन्हीं की पूजा के लिए लोग जा रहे हैं।

पार्श्व कुमार सन्त-समागम के प्रेमी तो थे ही उनका मन तपस्वी के दर्शन के लिए उत्साहित हो उठा। वे हाथी पर बैठकर

तपस्वी के पास पहुँचे। वहाँ हजारों स्त्री-पुरुष तपस्वी की फल-फूल, नैवेद्य से पूजा-अर्चा कर रहे थे। वह तपस्वी अपने चारों ओर प्रचण्ड आग सुलगाकर उल्टा लटक कर पंचाग्नि तप कर रहा था। धूप और आग की लपटों से शरीर तप रहा था। उसकी इस कठोर तपस्या या शारीरिक कष्ट को देखकर सब लोग धन्य-धन्य कह रहे थे और बड़े प्रसन्न दीख रहे थे।

लेकिन पार्श्व-कुमार को यह देखकर अच्छा नहीं लगा। वे युवक तो थे, परन्तु भलाई-बुराई का उन्हें पूरा भान था। वे विचारक थे। उनसे यह अविवेक-पूर्ण तपस्या देखी नहीं गई। उन्होंने तपस्वी से कहा—"महाराज, आप यह क्या कर रहे है ?"

तपस्वी बोला—"तुम देख नहीं रहे कि मैं तपस्या कर रहा हूँ !"

"यह तो मैं देख रहा हूँ कि आप तप कर रहे या तप रहे है, लेकिन मै पूछ रहा हूँ कि आप ऐसा तप क्यो कर रहे हैं ?"

"इससे पुण्य होता है और स्वर्गके सुख मिलते हैं।"

"लेकिन स्वर्ग-सुख के लिए शरीर को दुख देना तो आवश्यक नहीं है ?"

अब तपस्वीका पारा गरम होने लगा। बोला—"कुमार, तुम धर्म को क्या जानो ! तुम राजकुमार हो, महलों में रहते हो। तुम धर्म के मर्म को कैसे जान सकते हो !"

"यह तो ठीक है कि मैं धर्म को नहीं जानता पर यह तो समझता हूँ कि बिना ज्ञान और विवेक के काय-क्लेश करने में कोई लाभ नही है। इससे सुख नहीं मिल सकता।"

"राजकुमार, अधिक बकवास मत करो। अनधिकार-चेष्टा तुम्हे शोभा नही देती। धर्म-कर्म को तो हम जैसे तपस्वी ही समझ सकते हैं।" "केवल संसारके त्याग मे और कठोर शरीर-यातना मे ही धर्म नही है महाराज! विवेक का नाम धर्म है। जीवों की सेवा और रक्षा का नाम धर्म है। धर्म तो आत्मा की चीज है। आप तो शरीर से ही उलझ रहे है। आपकी इस तपस्या से दूसरे जीव दुखी हो रहे हैं, क्या आपको इसका पता है?"

"मै...मै · मै किसको कष्ट दे रहा हूँ। कहाँ दे रहा हूँ मै कष्ट? मै तो खुद कष्ट सह रहा हूँ!"

"यह देखिए महाराज, आपके सामने जो लकड़ी जल रही है उसमे नाग-युगल तड़फड़ा रहे है—बेचारे झुलस रहे हैं। इतना ही नही, ऐसे अनेको सूक्ष्म-जन्तु अग्नि मे भस्मीभूत हो जाते हैं। इस तरह जीवो की हिंसा करके तपस्या करना अज्ञान है।"

राजकुमार ने सेवक को जलते हुए लकड़े में से नाग-युगल को निकालने का आदेश किया। अग्नि की ताप से नाग और नागिन दोनो अधमरे-से हो गए थे। पार्श्वकुमार अत्यन्त करुण भाव से उनके पास गए। उन्होने उन्हे बड़ी प्रेम-पूर्ण और दया भरी दृष्टि से देखा। पार्श्वकुमार के सौम्य और करुण मुख को देखकर नाग-नागिन अपने दुख को भूल गए। पार्श्वकुमार के पवित्र चरणो मे बड़े ही समाधानपूर्वक नाग-नागिन ने प्राण त्यागे।

यह देखकर लोगों ने पार्श्वकुमार की खूब सराहना की। लोग उनका आदर करने लगे। तपस्वी के प्रति लोगों के खयाल बदलने लगे और अनादर-भाव बढ़ने लगा। तपस्वी का क्रोध बढ़ गया। लेकिन अब वह जनता का क्या कर सकता था। विवश होकर चला गया।

इस घटना का पार्श्वकुमार के मन पर बड़ा गहरा असर पड़ा। उन्होने निश्चय कर लिया कि लोगों को अज्ञान और भ्रम से मुक्त करके उन्हे सच्चा धर्म और कर्त्तव्य बताना चाहिए। जो बड़े और महान् होते हैं वे जगत् का हित करने के लिए ही पैदा होते हैं। सांसारिक सुखों में उन्हे अब कतई आनन्द नहीं आ रहा था। वे निरन्तर विचारमग्न रहने लगे। अन्त में उन्होने लोक-कल्याण के लिए राज-वैभव का त्याग कर संन्यास ग्रहण कर लिया। माता-पिता का उन पर बहुत स्नेह था। वे इनका विवाह करना चाहते थे, लेकिन पार्श्वकुमार के तीव्र वैराग्य के सामने उनकी एक नहीं चली। जिस समय पार्श्वकुमार की उम्र ३० वर्ष की थी। वे साधु हो गए। कुछ ग्रन्थकारों का कहना है कि उनका विवाह हुआ था।

साधु होने के पश्चात् ७० वर्ष तक वे भिन्न-भिन्न स्थानों पर विहार करते हुए सच्चे और स्वाभाविक धर्म का उपदेश करने लगे। लोगों को उनका कर्त्तव्य समझाया। तप और संयम का महत्त्व बतलाया। वे सच्चे साधु थे, सच्चे मार्ग-दर्शक थे।

उन्होंने जनता के समक्ष मुख्य रूप से चार बातें रखीं—

१. सब जीवों के प्रति प्रेम रखो। किसी को न सताओ, न दुखी करो। क्योंकि सब जीव तुम्हारी तरह ही सुख चाहते हैं।

२. सदा सत्य व्यवहार करो।

३ बिना दिए किसी की वस्तु ग्रहण मत करो यानी चोरी न करो। दूसरे का शोषण मत करो।

४ जरूरत से ज्यादा किसी भी चीज का संग्रह न करो। परिग्रह से चिन्ता बढ़ती है और दूसरे का शोषण करना पड़ता है जो पाप है।

यों तो श्रमण-परम्परा प्राचीन थी लेकिन हिंसा से बचने के लिए श्रमणों ने व्यक्तिगत आत्म-कल्याण को महत्त्व दे दिया था और इसके लिए वे जगलों में जाकर तपस्या-साधना करने लगे थे। यह परम्परा आगे जाकर समाज-जीवन के लिए अकर्मण्यता या उदासीनता पैदा करने लगी। इस त्रुटि को पार्श्वनाथ ने पकड़ लिया और उन्होंने धर्म को इस रूप में समझाया कि प्रत्येक प्राणी दूसरे को अपने समान जाने और इसी तरह व्यवहार करे। उन्होंने सामाजिक अधर्म और असमता को मिटाने के लिए अहिंसा और सत्य की व्यावहारिक साधना पर जोर दिया और इसकी पूर्ति के लिए अशोषण (अचोरी) और अपरिग्रह (असंग्रह) ये दो साधन इसके साथ जोड़ दिए। इस तरह उनका उपदेश 'चातुर्याम धर्म कहलाया'। वे मानते थे कि दूसरों के साथ समानता का व्यवहार तभी किया जा सकता है जब कि जरूरत से अधिक संग्रह नहीं किया जाता। क्यों कि संग्रह के लिए शोषण करना ही पड़ता है। सब सुखी हों, समान हों इसलिए असंग्रह और अशोषण आवश्यक है।

उनके इन सीधे और सच्चे उपदेशों से लोगों का बहुत लाभ हुआ। लोग उन्हें भगवान् मानने लगे। उनके कई शिष्य और

अनुयायी बने। भगवान् महावीर स्वामी के समय तक पार्श्वप्रभु के धर्म की परम्परा चलती रही। उनके सम्प्रदाय के कई साधु थे। महावीर स्वामी भी सच पूछा जाय तो उन्हींके विचारों के प्रचारक थे। महावीर स्वामी के प्रकट होते ही पार्श्वनाथ की परम्परा के साधु उनके संघ में आ गए।

भगवान् महावीर ने २५० वर्ष बाद इन चार यामों में ब्रह्मचर्य जोड़कर पाँच व्रतों के पालन पर जोर दिया। भगवान् बुद्ध ने इन्हीं यामों का अष्टांगिक मार्ग में स्वीकार कर उनका सुन्दर विकास किया। कुछ इतिहासकारों का मत है कि योग में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य नामक जो पाँच यम बताए हैं, वे भी पार्श्वनाथ के चातुर्याम से ही लिए गए हैं। महापुरुष ईसा को भी पार्श्वनाथ के यामों से प्रेरणा मिली थी। इसीलिए इतिहासकारों का कहना है कि समाज में धर्म को प्रतिष्ठित और प्रसारित करने में पार्श्वनाथ से ही प्रेरणा मिली थी और वे इस कारण एक महापुरुष हो गए हैं।

इस तरह तुम्हें मालूम होगा कि भगवान् नेमिनाथ ने जिस 'श्रमण' परम्परा को विकसित किया था, उसी की शुद्धि पार्श्वनाथ ने अपने समय के अनुसार की और फिर भगवान् महावीर स्वामी ने इसी का परिष्कृत किया।

पार्श्वनाथ का निर्वाण बिहार प्रान्त में सम्मेद शिखर नामक पहाड़ पर १०० वर्ष की आयु में हुआ। यह पर्वत आज 'पार्श्वनाथ हिल' नामसे प्रसिद्ध है। यह जैनों का बहुत ही पवित्र तीर्थस्थान है। पार्श्वनाथ जैनों के २३ वे तीर्थंकर माने जाते हैं।

—रिषभदास के प्यार

: ६ :

पैगम्बर मुहम्मद साहब

प्यारे राजा बेटा,

तुम मुसलमानो को तो जानते ही हो। ये लोग इस्लाम धर्म को मानते है। इसे मुस्लिम धर्म या मुसलमान धर्म भी कहते है। इस्लाम धर्म को शुरू करनेवाले या उसके प्रवर्तक मुहम्मद साहब थे। दुनिया में इस्लाम धर्म माननेवालो की सख्या कम नही है। विश्व मे मुसलमानो की संख्या करीब तीस करोड़ है। अरबस्तान मे तो यह शुरू ही हुआ था लेकिन ईरान, ईजिप्त, तुर्किस्तान, अफगानिस्तान, ताजकिस्तान, कुर्दस्तान और सीरिया में भी मुसलमानो की बहुत बड़ी सख्या है। और यो तो सारे एशिया भर मे मुसलमान लोग फैले हुए है। पाकिस्तान भी जो पहले हिन्दुस्थान का ही हिस्सा था, अब मुसलमानो का देश हो गया है।

जिस समय अरबस्तान में मुहम्मद साहब का जन्म हुआ, तब वहाँ की हालत बहुत खराब थी। यह १२-१३ सौ वर्ष पहले की बात है। उस समय अरबस्तान के लोग असंख्य कबीलों में बँटे हुए थे। 'कबीला' गिरोह या समूह को कहते हैं। प्रत्येक कबीले का अलग-अलग देव था। धर्म की सच्ची और सीधी बात किसी को मालूम नहीं थी। कुछ लोग गाँवो और शहरो में स्थायी रूप से रहते थे, तो कुछ

इधर से उधर हमेशा भटकते रहते थे। ये आपस में एक दूसरों को तुच्छ और नीच समझते थे। उनमें ऐसी कोई भावना नहीं थी जिससे धर्म, देश या संस्कृति की दृष्टि से एक हो सकें, नीतिमान बन सकें। वे लोग बिल्कुल अव्यवस्थित और जंगली ढंग से रहते थे। उन्हें लूट-पाट, शराबखोरी, जुआ खेलने और खाने-पीने में ही आनन्द आता था। इन्हीं कामों में वे सुख समझते थे। दूसरे के दुखों की और परलोक की उन्हें जरा भी पर्वाह नहीं थी।

मुहम्मद साहब का जन्म एक गरीब परिवार में हुआ था। उनके पिताका नाम अब्दुल्ला था। उनकी मृत्यु मुहम्मद साहब के जन्म के पहले ही हो गई। पति-वियोग तथा घर की गरीबी से मुहम्मद की माँ बड़े कष्ट में थी। जब उसने देखा कि इस बच्चे का पालन बड़ा कठिन हो रहा है, तब उसने मुहम्मद को हलेमा नामक दासी को सौंप दिया। कुछ दिनों के बाद दासी ने बालक उसकी माँ को लौटा दिया। बचपन में मुहम्मद की परवरिश उनके काका अबू तालेब ने की। ये मक्का शहर में रहते थे।

मुहम्मद जब काम-काज करने योग्य हुए तब व्यापार के लिए सीरिया, यमन आदि देशों में काफिले के साथ जाने लगे। ऊँटों पर सामान लाद कर साथियों सहित जाने को काफिला कहते हैं। यह बड़ी मेहनत और तकलीफ का काम था। क्यों कि रेतीले मैदान में ऊँटो पर चलना पड़ता। रेतीले मैदान में मीलो तक झाड़ की छाया और पीने को पानी नहीं मिलता और रेत में धूप भी ज्यादा लगती है। लेकिन ऐसे प्रवास से मुहम्मद साहब का बहुत विकास हुआ। उन्हें लोगों की रीतिरिवाजो और उनकी हालत का निरीक्षण करने का मौका मिला। अच्छे विचारक लोगों की संगति में रहकर वे

विचार-शील बन गए। परिश्रम करने से उनका स्वभाव परिश्रमी हो गया। अलग-अलग स्थानों और देशों में घूमने से बहुत ज्ञान मिलता है। निर्भयता बढ़ती है। लोगों से सम्बन्ध बढ़ता है।

मुहम्मद साहब बहुत सादगी से रहते थे। वे भोजन में रोटी और खजूर लेते थे। गरीब और धनी के साथ उनका एक-सा बर्ताव था, और व्यवहार में ईमानदार रहते थे। उनके मेहनती स्वभाव और ईमानदारी को देखकर खदीजा नामक एक धनी विधवा ने अपनी व्यापार की देखरेख के लिए उन्हें अपने यहाँ रख लिया। थोड़े दिनों बाद दोनों में प्रेम हो गया। खदीजा उनसे उम्र में १५ वर्ष बड़ी थी, फिर भी दोनों का विवाह हो गया। आगे चल खदीजा ही उनकी पहली अनुयायिनी बनी।

उनकी गृहस्थी सुख से तो चल ही रही थी, लेकिन वे गृहस्थी में ही मग्न न रहे, लोगों से धर्म की चर्चा भी करते रहते थे। बाइबिल का अरबी भाषा में अनुवाद करनेवाले पराका तथा दूसरे ईसाई, यहूदी आदि लोगों के सम्पर्क में आने पर उनसे भी धर्म तथा सदाचार की चर्चा करते। धीरे-धीरे घर-गृहस्थी से उनका चित्त उठ गया और वे अपने देश-वासियों की भलाई का मार्ग ढूँढ़ने में चिन्तित रहने लगे। हमेशा विचार करते-करते उन्हें ऐसा अनुभूति हुई कि खुदा, ईश्वर या भगवान् एक ही है। उसने मुझे संसार की भलाई का सन्देश देने के लिए भेजा है। उन्होंने लोगों को उपदेश देते हुए कहा, "दूसरों के साथ झूठ व्यवहार मत करो। सचाई पर झूठ का पर्दा मत डालो। नम्र बनो और अच्छे काम करो। दुनिया के लोग तो 'मरनेवाले ने क्या छोड़ा'

यही पूछते हैं, लेकिन देवदूत तो 'मरनेवाले ने कौन से अच्छे-अच्छे काम किए' यही पूछते हैं।"

पुराने रूढ़िवादियों को उनका इस तरह उपदेश देना अच्छा नहीं लगा। उनके खास विरोधी कुरेशी लोग थे। वे अपने आपको सबसे ऊँचा मानते थे। अपने आपको ऊँचा मानना अहंकार है। अहंकार से आदमी नीचे गिरता है। अहंकारी में दया और नम्रता नहीं रहती। इसी लिए अपने यहाँ बताया है कि :

जाति, लाभ,कुल, रूप, तप, बल, विद्या, अधिकार।
इनका गर्व न कीजिये, ये मद अष्ट प्रकार॥

सो, कुरेशियों को समता का उपदेश अच्छा नहीं लगा और उन पर पत्थर फेंकने लगे तथा मार डालने का भी विचार किया। इस लिए वे मक्का छोड़कर मदीना चले गए। रास्ते में भी कुरेशियों ने उन्हें मार डालने का प्रयत्न किया, लेकिन सफल न हो सके।

ऊपर तुम पढ़ चुके हो कि उस समय अरब के लोगोंकी बुरी हालत थी। खास कर मक्का की तो बड़ी बुरी दशा थी। वहाँ के लोगों को सुधारनेके लिए उन्होंने बहुत कष्ट उठाए। लेकिन जब लोग अपनी रूढ़ियों को छोड़ने के लिए तैयार नहीं हुए, बल्कि मार डालना चाहते थे तो मजबूर होकर उन्हें तथा उनके अनुयायियों को मक्का छोड़कर मदीना भाग जाना पड़ा। इस तरह भागने को हिजरत कहते हैं। हिजरी सन तभी से चला है। ईसाइयों का ईसवी सन्, जैनों का वीर संवत्, बौद्धों का बुद्ध संवत्, राजा विक्रमादित्य का विक्रम संवत् और शकों का शक संवत् आदि भिन्न-भिन्न सन् अपने देश में चल रहे हैं। अपने-अपने महापुरुषों को

याद में ये सन् चल रहे हैं, इस से हमारे व्यवहार में सुविधा होती है।

मदीना में मुहम्मद साहब को लोग बहुत मानने लगे। वहाँ उन्होने मजहीदु-न-नवी नामक मसजिद यानी प्रार्थना मन्दिर बनाया। इसके बनाने मे उन्होने काफी मेहनत उठाई। वे लोगों के साथ ईंट, पत्थर, मिट्टी की टोकरियाँ उठाते थे। बहुत बड़ी सत्ता मिलने पर भी वे घर के छोटे-बड़े काम जैसे घर झाड़ना, चूल्हा चेताना आदि काम अपने हाथो करते थे। वे रोज नियम से सामूहिक प्रार्थना किया करते। वे अपना समय भगवद्-भजन तथा जन-सेवा में ही लगाते थे। लेकिन, कुरेशियों ने उनका पीछा नहीं छोड़ा। अन्त मे उन्हे विवश होकर हाथ मे तलवार लेकर कुरेशियों को पराजित करना पड़ा।

इसी सिल-सिले मे उन्होने मक्का पर चढ़ाई कर दी और कुरेशियों को हटाकर विजय प्राप्त की। अब दूर-दूर के लोग आकर उनका उपदेश सुनने लगे। सारा अरबस्तान उनका भक्त बन गया और छोटे-बड़े का भेद भूलकर सब प्रेम से रहने लगे। इसी एकता से आगे चलकर बड़े-बड़े कार्य हुए। उनके प्रति जनता की भक्ति का एक उदाहरण देता हूँ। एक बार अबिसीनिया के बादशाह ने उनके चेले से पूछा कि तुम मुहम्मद के धर्मपर इतना प्रेम क्यों करते हो? तब चेलेने उत्तर दिया "हम जंगली और मूर्ख थे। हम पत्थरो की तो पूजा करते थे, लेकिन पड़ौसियों से झगड़ते और एक दूसरे को कष्ट पहुँचाते थे। मेहमानों का आदर-सत्कार नहीं करते थे। हमारे रीति-रिवाजों में इन्सानियत या मानवता नहीं थी।

और तो और हम अपने बच्चों या वारिसों के हकों को भी नहीं जानते थे। ऐसे समय हजरत ने आकर हमें जीवन के सच्चे रास्ते पर लगाया।"

इसी तरह अंग्रेज तत्त्वज्ञानी और लेखक ने लिखा है कि "दरिद्री और घुमक्कड़ जानवरों को पालते हुए भटकने वाले लोग संसार की उत्पत्ति से अज्ञान अवस्था में थे। वहाँ एक मार्गदर्शक आया। उसके सन्देशपर उन लोगों की श्रद्धा बैठी। उन्हीं अज्ञानियों ने संसार को व्याप्त कर लिया। वे चारों ओर फैल गए।"

अरबस्तान में अपने धर्म का प्रचार कर लेने पर उन्होंने विविध देशों में अपने दूत भेजे और उन देशों में अपने धर्म का प्रचार किया। उनके जीवनमें तथा बाद में कई देशों में उनका धर्म फैल गया।

मुसलमानों की प्रार्थना को नमाज कहते हैं और नमाज के स्थान को मसजिद। अपने यहाँ के मन्दिर, ईसाईयोंके गिर्जाघर आदि भी प्रार्थना के स्थान ही हैं। जिस तरह अपने यहाँ जीवन-साधना मे उपवास पर जोर दिया है, वैसे ही उन्होंने भी उपवास यानी 'रोजा' पर जोर दिया है। मुसलमानों के बारह महीनों में रमजान भी एक महीना है। इस महीने मे मुसलमान लोग बड़े धर्म-भाव से रहते हैं। दिन भर यानी सूर्य उगने से डूबने तक पानी की घूँट तक नहीं पीते। रात को ही खाते हैं। ईद और बकरीद इनके बड़े पर्व के दिन होते हैं। जैसे हिन्दुओं में गणेशचतुर्थी से अनन्त चतुर्दशी तक, जैनों में पर्यूषण के या दशलक्षण के भाद्रपद में दस

दिन धर्म के माने जाते हैं वैसे ही मुसलमानों में भी मुहर्रम के दस दिन धर्म के माने जाते हैं।

मुहम्मद साहब ने एक काम यह किया कि लड़कों के समान लड़कियों को भी पिता की सम्पत्ति का हकदार बनाया। मुसलमानों में लड़की पिता के धन की अपने भाई के समान ही अधिकारिणी होती है। स्त्री जाति के प्रति उनमे बहुत करुणा और सहानुभूति थी। हिन्दुओं में अभी यह प्रथा नहीं है।

मुहम्मद साहब ने अपने जीवन में बहुत कष्ट सहे, कई लड़ाइयाँ लड़ीं। बुढ़ापे मे उनका स्वास्थ्य ठीक नही था, फिर भी अन्तिम बार मक्का की यात्रा को मदीना से आए थे। इतने थक गए थे कि काबा के मन्दिर की प्रदक्षिणा भी उन्हे ऊँट पर बैठे-बैठे ही करनी पड़ी। मदीना लौटने पर ८ जून सन् ६३२ में उनका स्वर्गवास हो गया।

अपने देश और जाति वालो की आपसी फूट मिटाकर उन्होंने एकता का सन्देश सुनाया था उससे अरबियो का काफी विकास और गौरव हुआ। इसी कारण संसार के करोड़ों लोग उन्हे पूजते हैं। वे पैगम्बर माने जाते हैं।

अपने देशमे मुसलमान लोग करीब एक हजार वर्ष पूर्व आए हैं। हिन्दुओ और मुसलमानों मे धार्मिक अहंकार के कारण समय-समय पर लड़ाई, झगड़े काफी हुए हैं। एक दूसरे के संपर्क से मुसलमानों तथा हिन्दुओ में जहाँ कई गुण पैदा हुए हैं,

वहाँ अवगुण भी बढ़े हैं। इस भेदभाव को खत्म करने के लिए पाँच सौ वर्ष पहले महात्मा कबीरदास, नानक, रैदास आदि सन्त कवियों ने एकता लाने का प्रयत्न किया। उन सन्तों ने दोनों को प्रेम से रहने का, इन्सानियत से बरतने का उपदेश दिया और दोनों के दोषों को साफ तौर से सामने रखा। स्पष्ट रूप से दोषों को बताने से हिन्दू और मुसलमान दोनों उन पर बिगड़े। परन्तु इस विरोध की पर्वाह न कर, वे अपनी सच्ची बात कहते रहे। जैन कवि बनारसीदासजी ने भी, जो तुलसीदासजी के समकालीन थे, हिन्दू और मुसलमान एक ही आत्मा के दो रूप हैं, कहकर अपनी विशाल और उदार भावना का परिचय दिया।

यों आज सब धर्मानुयायियों में रूढ़ियों के कारण कुछ बुराइयाँ आ गई हैं, लेकिन कोई धर्म बुरा नहीं है। मुहम्मद साहब की शिक्षाओं को ग्रहण कर हम भी छोटे-बड़े का भेद भूलकर ऊँचे उठ सकते हैं।

—रिषभदास के प्यार

: ७ :

ज़रथुस्त और पारसी समाज

प्यारे राजा बेटा,

तुमने पारसी लोगो को देखा है न ? ये लोग बहुत अच्छे होते है। साफ़ सुथरे रहते हैं। इनकी भाषा गुजराती है। ये लोग अधिकतर व्यापारी ही हैं। इनके व्यवहार में नम्रता और मिठास रहती है। इनकी वेश-भूषा भी एक विशेष प्रकार को रहती है। टोपी पगड़ीके समान अपनी खासियत रखती है। बम्बई के व्यापारियो मे पारसी लोगों का खास स्थान है। व्यापार करने मे ये लोग बड़े चतुर और साहसी होते हैं। इसीलिए इन्होने बड़े-बड़े उद्योग और कारखाने स्थापित किए तथा चला रहे है। अपनी कुशलता और व्यवस्था के कारण व्यापार में इन्होने नाम भी काफी कमाया।

संसार के उद्योग पतियो मे 'टाटा' का बहुत ऊँचा स्थान है। टाटा का लोहे का कारखाना ससार का एक बहुत बड़ा कारखाना माना जाता है। यह जमशेदपुर मे है। इस नगर को अब टाटा नगर भी कहते हैं। यह जमशेदपुर बिहार में है। इस कारखाने में प्रतिदिन टनो से लोहेकी चीजें बनती हैं। हिन्दुस्तान के प्रायः

सभी प्रमुख उद्योगों में टाटा ने हिस्सा लिया था। इनका नाम जमशेदजी टाटा था। लोहेके कारखाने वाले गाँव को इसीलिए जमशेदपुर या टाटा नगर कहते हैं। बिजली, वस्त्र, तेल, साबुन, रसायन और हवाई जहाज आदि उद्योगों तथा बीमा, बैंक आदि प्रमुख उद्योगों में भाग लेकर टाटाने अपने देश के व्यापार को काफी ऊँचा उठाया है। नागपुरकी एम्प्रेस मिल एशिया की सबसे बड़ी कपड़े की मिल है। यह टाटा की ही है। यह सब होते हुए भी टाटाकी यह विशेषता है कि उनके उद्योगों में मजदूरों को अब मुनाफे का हिस्सा मिलने लगा है।

पारसी लोग हिन्दुस्तान के नहीं हैं। इनका मूल निवास-स्थान ईरान है। इसे पर्शिया भी कहते हैं। यह हिन्दुस्तान के उत्तर मे सुन्दर देश है। यहाँ की भाषा पर्शियन या पारसी (फारसी) कहलाती है। फारसी और हिन्दी के मिश्रण से ही उर्दू भाषा बनी है। पर्शियन भाषा बड़ी मधुर मानी जाती है और उसकी गजल, कवालियाँ आदि प्रसिद्ध हैं। ईरानके लोग बड़े कला प्रिय और कलाकार होते हैं। वहाँ के गलीचे बड़े अच्छे होते हैं। अब शायद तुम यह जानना चाहोगे कि ये लोग ऐसे सुन्दर और कला-प्रिय देश को छोड़ कर अपने यहाँ क्यों आए!

बात यह है कि अरबस्थानमें जब मुस्लिम धर्म स्थापित हुआ तो मुसलमानों ने ईरान देश पर हमला कर दिया। देश को जीतकर वहाँके निवासियों को वे मुसलमान बनाने लगे। इसलिए अपने धर्मको बचाने के लिए वे लोग हिन्दुस्थान में आए। भारतवर्षकी यह विशेषता रही है कि बाहर से अनेवाले लोगों का यहाँ सदा

स्वागत ही होता रहा है। यहाँ के विचारकों ने सबको उदारता पूर्वक स्थान दिया। पारसी भाई संकट में थे, उन्हें भी आश्रय मिल गया।

पहले-पहल वे सजान नामक बन्दरगाह पर उतरे। भारत-वासियों की उदारता का उन पर बहुत असर पड़ा। उन्होंने बन्दर-गाहके आस-पासके प्रदेश की गुजराती भाषा सीखी और वे भारत को अपनी जन्म-भूमि मानने लगे। अपने धर्म-पालन की उन्हें पूरी स्वतन्त्रता थी।

पारसी धर्म के संस्थापक जरथुस्त माने जाते हैं। कहा जाता है कि जरथुस्त तीन हजार वर्ष पहले हुए हैं। सचमुच यह बड़े महत्त्व की बात है कि उस समय प्रायः सभी देशों में महापुरुष पैदा हुए थे। महापुरुषों का जन्म फैली हुई बुराइयों को मिटाने और लोगों को सच्चे मार्ग पर लगाने के लिए ही होता है। जर-थुस्त के जन्म के समय भी उस देश में धर्म के नाम पर बहुत बुराई बढ़ गई थी।

जरथुस्त के पिताका नाम पुरुशास्य तथा माता का नाम दुग्धोवा था। इस तेजस्वी बालक की लीलाओं को देखकर जहाँ माता-पिता और सत्पुरुषों को आनन्द होता, वहाँ दुष्ट और रूढ़ि चुस्त लोगों को बुरा लगता था। वे जरथुस्त का विनाश करना चाहते थे। दुष्टों का स्वाभाव ही ऐसा होता है कि वे दूसरों की उन्नति को सहन नहीं कर सकते, अकारण ही कष्ट देना चाहते हैं, हानि पहुँचाना चाहत हैं। करोड़ों उपकार करने पर भी दुष्ट

आदमी भलाई नहीं चाहता। सर्प को कितना भी दूध पिलाने पर वह विष ही उगलता है। एक दिन शाम को, वन से लौटते हुए पशुओं के रास्ते में जरथुस्त को डाल दिया। लेकिन उस बालक का बाल भी बाँका नहीं हुआ। फिर उसे एक दिन भेड़ों के आगे पटक दिया, लेकिन वहाँ भी वह बच गया। उसके मन में कोई पाप नहीं था। वह दिनोंदिन बढ़ने लगा।

पन्द्रह वर्ष की उम्र में उसका उपनयन-संस्कार हुआ और उसे गुरु के निकट पढ़ने को भेजा गया। बचपन से ही उसकी प्रकृति धार्मिक थी। लोगों की स्वार्थ-वृत्ति को देखकर जरथुस्त के मन में उनकी हित-कामना के विचार आने लगे। केवल मनुष्य ही नहीं, प्राणी-मात्र के प्रति उसमें प्रेम था। बचपन से ही वह धार्मिक और सामाजिक परम्पराओं मे सुधार का काम करने लगा। उसकी विवाह-योग्य उम्र में पिता ने उसके विवाह का विचार किया। उसने साफ कह दिया था कि पर्दा दूर किए बिना मैं विवाह नहीं करूँगा। आखिर वधू को पर्दा हटाना पड़ा।

जरथुस्त के ग्राम के निकट एक पहाड़ था, जहाँ वे चिन्तन किया करते थे। एकान्त में वर्षों चिन्तन और तपस्या करने पर उन्हें सत्य का साक्षात्कार हुआ, उनके विचार सुलझ गए। वे अवेस्ता नामक धर्म-ग्रन्थ का अर्थ समझ गए। अब वे धर्म-ज्ञान यानी सचाई का प्रचार करने लगे। यह देख दुष्टों को बहुत बुरा लगा। उन लोगोंने जरथुस्त को मार्ग-भ्रष्ट करने के अनेक प्रयत्न किए। लेकिन वे अपने उद्देश्य पर दृढ़ रहे, नहीं डिगे। उनके दस वर्ष तो बुराइयों से झगड़ने में ही गए। महान् पुरुष बहुत धीर,

गंभीर और सहनशील होते हैं। देखो न, समुद्र कितना अपार और अथाह होता है; लेकिन वह कभी अपनी मर्यादा नहीं लाँघता।

उनका पहला शिष्य उनका भतीजा था। उनका नाम मेत्यामा था। जरथुस्त ने राजा कैगुस्ताप को अपना सन्देश सुनाकर उसे अनुयायी बनानेका विचार किया। लेकिन यह काम सरल नहीं था। राजाके यहाँ दम्भी लोगों का जमघट था। राजा के धर्म-गुरुओं ने जरथुस्त से तैंतीस कठिन प्रश्न पूछे। प्रश्नों के अच्छे उत्तर सुनकर राजा बहुत प्रभावित हुआ। जरथुस्त के प्रति उसके मन में आदर बढ़ने लगा। यह देखकर धर्म-गुरुओंको अच्छा नहीं लगा और झूठा दोष लगाकर जरथुस्त को जेल भिजवा दिया। ऊपर से राजा की आज्ञा हुई कि उसे भूखा रखा जाय। लेकिन राजाने जब विचार किया तब उसे अपनी करनी का पछतावा हुआ और जरथुस्त को छोड़ दिया। इतना ही नहीं, राजा ने जरथुस्त के धर्म को स्वीकार कर लिया।

जरथुस्त अनेक वर्षों तक धर्म का प्रचार करते रहे। वैदिक धर्म और जरथुस्त धर्म मिलते-जुलते ही हैं। वास्तव में देखा जाय तो धर्म सभी अच्छे हैं। क्षेत्र और काल की परिस्थिति के अनुसार भाषा और कहने के ढंग मे भेद हो जाता है।

जरथुस्त धर्म के कुछ सिद्धान्त ये हैं :—

१. मनुष्य और प्राणी-मात्र का उद्देश्य विकास करना है।

२. स्त्री और पुरुष, दोनो को सत्य-असत्य को जानने और धर्म के पालन का समान अधिकार है।

३. गरीब और अमीर, राजा और रंक सबका विकास और शाश्वत जीवन पर एकसा हक है। जो इन्हें प्राप्त करना चाहते हैं, वे सद्धर्म का पालन करें।

४. धर्मात्मा लोग समता, भाई-चारा और शांति स्थापित कर सकते हैं।

५. अपने विकास या उन्नति के लिए दान, श्रद्धा, प्रेम और सेवा आवश्यक है। आत्मोन्नति और लोक-सेवा में भेद नहीं है।

ऐसे ऊँचे तत्त्वों के प्रचार से जरथुस्त के अनेक अनुयायी हो गए। वे अपने शिष्यों के साथ अग्नि-मन्दिर में प्रार्थना किया करते थे। एक बार जब वे अपने ८० शिष्यों के साथ प्रार्थना कर रहे थे, तब लुटेरों ने आकर उन्हे तथा उनके अनुयायियों को मार डाला।

भले ही उनका पार्थिव शरीर नष्ट कर दिया गया, लेकिन वे तो अमर हो गए। इसी लिए तो आज हजारों वर्षों के बाद भी उनका महात्मा के रूप में स्मरण और पूजन होता है। आत्मा ही तो विकास करते-करते महात्मा और परमात्मा बनती है।

प्रायः सभी धर्मों में ऐसे महात्माओं की बातें हैं। इन सबने संसार को उन्नति का उपाय बताया है।

पारसी लोग बड़े समाज-सेवक और देश-भक्त होते हैं। पारसी जाति बहुत छोटी है, लेकिन कोई भी पारसी भीख माँगते हुए नहीं दीखेगा। इन लोगों ने अपनी समाज के अपाहिज, रोगी तथा असमर्थ लोगों की सहायता के लिए एक ट्रस्ट खोल रखा है;

जिसके द्वारा मदद दी जाती है। इनका सामाजिक संगठन बड़ा मजबूत और व्यवस्थित है। अपनी जातिके एक भी आदमी का दुख उनकी पूरी जाति का दुख हो जाता है। इसी तरह की एक 'कच्छी' कौम है, जिसका भी कोई आदमी भीख नहीं माँगता। केवल अपनी जाति ही नही, पारसी लोगो ने देश के लिए भी बहुत धन खर्च किया और मानव-मात्र की सेवा की है। उनकी सेवाएँ सभी क्षेत्रो मे दीख पडेगी।

भारतवर्ष की राजनीति मे दादाभाई नोरोजी को नहीं भुलाया जा सकता। 'स्वराज' शब्द का उच्चारण सबसे पहले उन्होने ही किया था। वे भारत के पितामह यानी दादा माने जाते थे। उन्होने देश की महान सेवा की है। फिरोजशा मेहता एक समय बम्बई के सिंह माने जाते थे। इन्होने भी कांग्रेस की बहुत सेवा की है।

इस तरह छोटी होने पर भी पारसी जाति ने अपनी सचाई और कर्तव्य-शीलता से काफी प्रतिष्ठा और स्थान प्राप्त किया है।

संक्षेप मे यह जरथुस्त तथा पारसी समाज का परिचय है। बडे होनेपर और अधिक जानने की कोशिश करना।

—रिषभदास के प्यार

:८:

गुरु नानक

प्यारे राजा बेटा,

तुमने पंजाबियो या सिक्खो को देखा है न ? वे सिर और दाढ़ी के केश नहीं कटवाते और साफ़ा बांधते हैं। ये लोग ऊँचे-पूरे और तन्दुरुस्त होते हैं। ये ताक़तवर भी होते हैं। सिक्ख लोग ज्यादातर फौज में काम करते हैं और बहादुरी के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं। इन लोगों के गुरु का नाम नानक था। आज मैं तुम्हें नानकजी के बारे में ही लिख रहा हूँ। ये सिक्ख धर्म के संस्थापक थे।

गुरु नानक का जन्म तलवण्डी नामक ग्राम में सन् १४६९ में हुआ था। तलवण्डी पंजाब प्रान्त में एक छोटा-सा गाँव है। इनके पिता का नाम कालूरामजी और माता का तृप्ति देवी था। ये क्षत्रिय थे। कालूरामजी दूकान करते थे, खेती करते थे और जागीरदार के यहाँ काम भी:करते थे। खा-पीकर सुखी थे। यह लगभग पाँच-सौ वर्ष पहले की बात है।

श्री कालूरामजी ने बहुत प्रयत्न किया कि बालक नानक को पढ़ाया जाय, और वह फारसी भाषा भी पढ़े, लेकिन नानक का मन इस पढ़ाई में नहीं लगा। वे तो एक सन्त या साधु की आत्मा लेकर आए थे। जब उनका पढ़ाई में मन नहीं लगा, तब कालूरामजी ने उन्हें घरके काम-धंधे में लगाया। लेकिन नानक का मन तो दूसरी

ही तरफ दौड़ रहा था। वे तो साधु-सन्तों की संगति में रहते, उनसे धार्मिक चर्चा करते। माता-पिता नानक की यह दशा देखकर बड़े निराश हुए। माता-पिता की नजर में तो वही लड़का अच्छा होता है जो काम-धंधे में लग कर दो पैसे की कमाई करे।

पर, जब फसल के दिन आए तब खेत पर किसी को भेजना तो जरूरी था। कालूरामजी ने नानक से जाने के लिए पूछा। नानक ने हाँ भर ली। वे फसल को सम्हालने के लिए चले गए। वहाँ चिड़िया आकर खेत खाने लगी। नानक चिड़िया के चहकने और चुगने पर मुग्ध हो गए। उन्हे यह बहुत अच्छा लगा।

इस तरह जब वे चिड़ियो को उड़ाने के बदले उन्हें जिलाकर आनन्द मानने लगे, तब फसल क्या होती! नानक के पिता को यह सब देखकर बहुत दुख हुआ। उन्होंने समझ लिया कि नानक इस काम के योग्य लड़का नहीं हैं। आखिर उन्होंने नानक को अपने पास ही रखा और दूकानदारी सिखाई। पिताजी की देखरेख में नानक अच्छी तरह सीख गए। पिताजी को भी विश्वास हो गया कि नानक अब कमाने-खाने लायक हो गया है।

एक दिन उन्होने नानक से कहा "देखो, अब तुम ठीक तरह काम करने लगे हो। और इस दूकानदारी मे दोनो का लगे रहना ठीक नहीं। इसलिए ये रुपए लो, और इन से माल लाकर व्यापार करो। और देखो, व्यापार ऐसा करना कि सौ के दुगुने और चौगुने हो जायँ।"

नानकजी ने रुपए लिए और एक आदमी के साथ चल दिए। माल ढोने के लिए साथ में एक बैल गाड़ी भी रख ली। रास्ते में एक

जंगल पड़ता था। उस जंगल में साधुओं की टोली रहती थी। साधुओं की टोली को जमात कहते हैं। साधुओं के समूह को देखते ही नानकजी आनन्दित हो गए। उनकी साधु-संग करने की इच्छा हो गई। बैलगाड़ी खोलकर वे साधुओं के पास चले गए। नानकजी के पहुँचते ही साधुओं ने कहा :

"आओ भगत, आओ। हम सब दो दिन से भूखे हैं, कुछ प्रसाद की व्यवस्था हो जाय।"

साधुओं की मण्डली बहुत बड़ी थी और उसे भोजन कराना कोई आसान बात नहीं थी। लेकिन नानकजी उस में लग गए। गाड़ी गाँव में भेजकर खाने-पीनेका सामान मंगवाया और इस तरह साधुओं को भर-पेट भोजन करवाया। भोजन हो चुकने पर साधुओं ने आशीर्वाद देते हुए कहा: "जाओ बेटा, तुमने हमारे लिए जो खर्च किया है, उससे सौ-गुना पाओगे।"

इस भोजन से सौ गुना लाभ का आश्वासन पाकर नानक वापिस घर लौट गए। नानक को इतनी जल्दी लौटा देखकर पिताजी को बहुत अचरज हुआ। नानक के चेहरे पर प्रसन्नता देखकर उन्होने पूछा : "कहो नानक, व्यापार कैसा रहा ?"

"बहुत अच्छा रहा पिताजी, आपने जितना दिया था, उस से सौ-गुना हो जावेंगे।"

"कैसे ?"

"मैंने वे रुपए एक ऐसे काम में लगाए हैं कि उस से हमें सौ-गुना लाभ होगा।"

"आखिर वह काम कौन-सा है ?"

जो कुछ हुआ था नानक ने सच-सच बता दिया। सुनकर पिताजी को बड़ा दुख हुआ। वे अब अच्छी तरह समझ गए कि व्यवहार के लिए नानक बिलकुल अयोग्य है।

कुछ दिनों के बाद नानकजी का विवाह कर दिया गया। इस से उन्हें दो पुत्र भी हुए, लेकिन व्यवहार में उनका मन लगता नहीं था। यह देखकर नानकजी के बहनोई श्री जयराम उन्हे अपने साथ सुलतानपुर ले जाना चाहते थे।

सुलतानपुरमे नानकजी को जयरामजी की सिफारिश से सूबेदार के अन्न-भाण्डार का कार्य सौंपा गया। इसे उन्होने बहुत अच्छी तरह किया। वे ईमानदार और सत्यवादी तो थे ही। उन्होंने वह काम अच्छी तरह इसलिए भी किया कि उन्हें जयरामजी की सिफारिश से मिला था। इन के द्वारा काम बिगड़ने पर जयरामजी की बदनामी होती।

यहाँ साधुओ का जमघट तो रहता ही था। नानकजी की सहृदयता और प्रामाणिकता पर सूबेदार भी प्रसन्न थे।

उनकी दिन-चर्या बड़ी सीधी सादी थी। प्रातःकाल बड़े तड़के उठकर स्नान आदि कर ध्यान मे बैठ जाते। फिर भोजन कर अपने कार्य में लग जाते। संध्याको अपने साथियो के साथ भजन-कीर्तन में लग जाते। सारंगी बजाकर भजनोमें जिसने उनका जन्मभर साथ दिया वह मरदाना भी उस समय सुलतानपुर में

आ गया था। बाहर से नानकजी यद्यपि व्यवहारमें लग गए थे, लेकिन भीतर तो उनके मन में भारी मंथन चल रहा था। एक दिन वे नदी पर स्नान करने गए थे। वहाँ से वे जंगल में चले गए। तीन दिन के बाद लौटे। लोगों ने तो समझ लिया था कि वे डूब गए। लेकिन विचारों में उनके काफी गंभीरता आ गई थी। इन तीन दिनों में उन्होने बहुत चिन्तन किया था। उनके भीतर ज्ञान का दीपक जाग उठा। वापस लौटने पर उनके मुँह से केवल यह वाक्य निकला—

"न कोई हिन्दू है, न कोई मुसलमान"

यह भावना उनके दिल में क्यों पैदा हुई ? इसके बारे में थोड़ासा लिखना आवश्यक प्रतीत होता है।

पाँच सौ साल पहले भारत में मुसलमानो का राज्य था। वे यों तो एक हजार वर्ष पहले से भारत में आने लगे थे और लूट-पाट कर यहाँ की सम्पत्ति ले जाते थे। लेकिन धीरे-धीरे यहाँ के जातीय द्वेष और पारस्परिक झगड़ों से फायदा उठाकर उन्होंने अपने पाँव स्थिर कर लिए। इतना ही नहीं, वे राज्य और तलवार के बल पर हिन्दुओं को मुसलमान भी बनाने लगे, उनकी बहू-बेटियों से विवाह भी करने लगे थे। दोनों में—हिन्दुओं और मुसलमानों में निरंतर युद्ध होते रहते थे और विषमता बढ़ती जा रही थी। मनुष्यता धर्म के नाम पर नष्ट हो रही थी।

ऐसी स्थिति में कबीर, दादू, रैदास, गोरखनाथ आदि कुछ संत ऐसे हुए, जिन्होंने शांति और भाई-चारा बढ़ाने के लिए एकता

का उपदेश किया। हिन्दुओ को और मुसलमानो को—दोनो को उन्होने कट्टरता के लिए फटकारा। असली धर्म को समझाने के लिए प्रयत्न किया। इन लोगो पर भारत के प्राचीन ब्राह्मण, बौद्ध और जैन धर्मों का पूरा प्रभाव था। इन सतो मे हिन्दू और मुसलमान—दोनों थे। इसी समय पंजाब मे नानकजी का उदय हुआ।

पजाब हरा-भरा देश है। हिन्दुस्तान का नक्शा देखने से मालूम होगा कि यह देश एकदम उत्तर मे है। पजाबकी आब-हवा बहुत सुन्दर है। इस प्रान्त में बडी बडी पाँच नदियाँ बहती हैं इसलिए इसे पजाब कहते हैं। पच और आब मिलकर पजाब शब्द बना है। आब का अर्थ पानी होता है। झेलम, रावी, सतलज, वियास और चिनाव ये नदियाँ हे। ये सब हिमालय से निकलकर पजाबसे बहती हुई सिन्धु नदी मे मिलती है। सिंधु भारत की बहुत बडी नदी है। भारतवर्ष के इतिहास का, सस्कृति का सिंधु नदीसे बड़ा गहरा सम्बन्ध है। हिमालय से निकलने के कारण पजाब की ये नदियाँ सदा भरी रहती है। गर्मी मे तो और भी ज्यादा भरी रहती हैं क्योकि हिमालय का बर्फ गलकर बहता है। इस कारण पजाब मे पानी की कमी कभी नही पडती और सिचाई से खेती होती है। सिंचाई के कारण वहाँ की जमीन काफी उपजाऊ है। पजाब में नहरें बहुत हैं।

पजाब की उपज मे गेहूँ और चना बहुत प्रसिद्ध है। चावल भी बढिया होता है। अमृतसर के चावल लम्बे-लम्बे और खाने में बड़े स्वादिष्ट होते है। इन चावलो की विशेषता यह है कि थोड़े से

बनाने पर भी पकने पर बहुत हो जाते हैं। लेकिन चावल ज्यादा नहीं होते। काश्मीर, सीमाप्रान्त और काबुल नजदीक होने से और ठण्डा प्रदेश होने से पंजाब में अंगूर, अनार, सेव आदि फल तथा बादाम, पिश्ते, काजू, लीची आदि मेवे बहुत सस्ते मिलते हैं। इसीलिए पंजाबी लोग हट्टे-कट्टे और लाल होते हैं।

पंजाब की गायें भी अच्छी होती हैं। १०-१० और १५-१५ सेर तक दूध देती हैं। शाहीवाल और मौटगुमरी जाति की तथा हिसार और हरियाना नस्ल की गायें अच्छी होती हैं। हरियाना जाति की गायें दूध तो अच्छा देती ही हैं, इनके बैल भी बड़े अच्छे होते हैं। हिसार-हरियाना की गायें अपने यहाँ की गौलाऊ गायो की तरह सफेद होती हैं। तेज और सुन्दर भी होती हैं। शाहीवाल गाय दूध तो खूब देती है किंतु बैल उतने अच्छे नहीं होते; जितने हिसार और हरियाना के होते हैं। पंजाब की भूमि गीली यानी नरम होने से वहाँ थोड़ा-बहुत काम तो देते ही हैं, फिर भी हरियाने की अपेक्षा ढीले और सुस्त होते हैं। हरियाना के बैल चुस्त, तेज और शक्तिशाली होते हैं।

पंजाब में यहाँ से बहुत ज्यादा ठण्ड पड़ती है। खाने की पौष्टिक और स्वास्थ्यकर चीजें भी अत्यधिक और सस्ते दामों में मिलती हैं। इसलिए पंजाबी लोगों का शरीर सुदृढ़, सुन्दर तथा ऊंचा-पूरा होता है।

सीमावर्ती प्रदेश होने से यहाँ के लोगों को सदा विदेशी आक्रमणकारियों से झगड़ना पड़ता था। प्राचीन कालमें यूनानी,

शक और हूणों के हमले हुए थे। फिर पठानो, मुगलों और अरबों के हुए— ये मुसलमान थे। इन सब से मुकाबला करने के लिए पंजाबियों को तैयार रहना पड़ता था। पंजाब शूरवीरता के लिए प्रसिद्ध रहा है।

हमेशा के इस युद्ध और द्वेष के कारण हिन्दू-मुसलमान भेद जोर पकड़ने लगा। अब वे यहाँ बस ही गए और राज्य करने लगे तो कुछ संतो ने देखा कि अब मिलकर रहने में ही देश का लाभ है। लड़ते-लड़ते देश की शक्त कम हो गई थी और कुछ ऐसे भी लोग थे जो घर में फूट डालकर मुसलमानो से मिल गए थे। ऐसी हालत मे कुछ सन्तो ने भारत की आध्यात्मिकता को अपनी लोक-भाषा मे जाग्रत् किया। उन सन्तो मे नानक भी एक थे।

ये कबीरदास, रैदास, दादू, नानक आदि संत सब धर्मों में समन्वय लाना चाहते थे। इनका कहना था कि मनुष्यमात्र में कोई भेद नही है— जाति, वर्ण और ऊँच-नीच के भेद फजूल हैं। धर्म तो प्रेम और भाईचारा सिखाता है। इन लोगों ने यह भी बताया कि हरएक आदमी को अपना धर्म पालना चाहिए लेकिन दूसरे धर्म के प्रति निंदा के और तिरस्कार के भाव नहीं रखना चाहिए।

अपने विचारों को फैलाने के लिए नानकजी ने भ्रमण भी किया। वे लगभग तीन वर्ष तक भ्रमण करते रहे। न केवल हिन्दुस्तान, बल्कि मक्का-मदीना तक घूम आए। भ्रमण करने से आदमी का हृदय निर्भीक हो जाता है और सैकड़ों प्रकार के लोगों से

मिलकर अनुभव भी बहुत बढ़ जाता है। लोगों का सम्पर्क बढ़ता है, ज्ञान बढ़ता है, प्रान्त-प्रान्त के रीति-रिवाज मालूम होते हैं। तीन साल तक घूमकर नानकजी ५५ वर्ष की उम्र में आकर कर्तार-पुर में बस गए। घूमने के समय जो साधु वेष लिया था वह उतार दिया और गृहस्थी के रूप में रहने लगे। खेती द्वारा जीवन निर्वाह करते थे। वे खेती जैसे पवित्र और परिश्रमी उद्योग में लगकर अपना धर्म-प्रचार भी करते रहे।

वे गाते बहुत अच्छा थे। उनके भजन बड़े लोकप्रिय हैं। उन्होंने अपने पद-भजन गुरुमुखी और प्राचीन-हिन्दी भाषामें लिखे हैं। जिस पुस्तक में उनके अनुभव लिखे हुए हैं, उसका नाम 'जपजी' है। इसमें कविता में सारा तत्व-ज्ञान भरा है।

उनका कहना था कि राग-द्वेष से दूर रहना ही साधु-जीवन है। परिश्रम से ही आदमी की शक्ति बढ़ती है। हिन्दू और मुसल-मान सब उन्हे चाहते थे क्योंकि वे किसी तरह का भेद मानते ही नहीं थे। जब उनका स्वर्गवास हुआ तब हिन्दू अपने ढंगसे उनका क्रिया-कर्म करना चाहते थे अ र मुसलमान चाहते थे कि वे दफनाए जावें। इससे तुम समझ सकते हो कि वे कितने लोक-प्रिय थे।

उनका जीवन बड़ा सादगी-पूर्ण था। सुबह बड़े तड़के उठते और प्रार्थना-स्तवन ध्यान-स्वाध्याय आदि करते। दिनभर खेती का काम करते, फिर रात को चिंतन-मनन और भजन होते।

सचमुच नानक भारत के एक महान् संत हो गए हैं। उनके अनुयायी सिक्ख कहलाते हैं। सिक्खों के मंदिरों को गुरुद्वारा

कहते हैं और वहाँ हरएक आदमी बिना किसी भेद-भाव के जा सकता है। सिक्खों का सबसे बड़ा मंदिर अमृतसर में है जिसे स्वर्ण-मंदिर कहते है। यह भारत का बहुत प्रसिद्ध मदिर है।

सिक्ख लोगों की पाँच विशेषताएँ बाहर दिखाई देती है—

१. वे केश नहीं कटवाते।
२. साफा बाँधते हैं।
३ कघी साफे में रखते हैं।
४. हाथ मे कड़ा रखते हैं।
५. और, कटार रखते हैं।

शुरू-शुरू मे भले ही इनके रखने का उद्देश्य दूसरा रहा हो, लेकिन आज तो ये सब धर्मिक विधि मे मानी जाती है।

बड़े होने पर नानकजी के बारे मे और भी बाते तुम्हे जानने को मिलेंगी। अभी तो इतना ही काफी है।

—रिषभदास के प्यार

: ९ :

सत्याग्रही मघ

प्यारे राजा बेटा,

तुमने पहले भगवान् बुद्ध की कहानी पढ़ी है न! यहाँ उन्हीं के पूर्व-जन्म के एक भव की कहानी लिखी जा रही है। लगभग सभी भारतीय धर्मों की मान्यता है कि मनुष्य जो कुछ भले-बुरे काम करता है उनका सम्बन्ध केवल एक ही जन्म से नहीं रहता। पिछले कार्यों का परिणाम इस जन्म में और इस जन्म के कार्यों का परिणाम अगले जन्मों में भुगतना पड़ता है। आज हमें यदि कोई भला और महापुरुष दीखता है तो वह केवल इसी जन्म के कामों का फल नहीं है—उसके पीछे पहले के कई जन्मों का प्रभाव और संस्कार रहता है। बुद्ध और महावीर केवल एक ही जन्म से तथागत और तीर्थंकर—जननायक नहीं बन गए थे, उनके पीछे भी कई जन्मों के अच्छे कार्यों की कमाई थी। आदमी प्रयत्न करते-करते ही ऊपर चढ़ता है। जिस तरह सोना तपाने से शुद्ध बनता है, उसी तरह आदमी भी पुरुषार्थ, श्रम और सेवा से महान् बनता है। बौद्ध धर्म में कहा गया है कि जो मनुष्य भविष्य में बुद्ध बनने-वाला होता है, वह पहले जन्मों में बोधिसत्व कहलाता है। आज जो कहानी मैं लिख रहा हूँ वह मघ नामक बोधिसत्व की है। मघ ने निःस्वार्थ सेवा और शीलपालन का बहुत प्रयत्न किया था।

बात अत्यंत प्राचीन काल की है। मघ का जन्म मगध देश के मचल नामक ग्राम में एक किसान के यहाँ हुआ था। समझदार होने पर ग्रामवासियों की स्वार्थ-वृत्ति देखकर उसे अच्छा नहीं लगा। ग्राम में फैलनेवाली गंदगी और उसके प्रति लोगों की उपेक्षा या असावधानी देखकर भी उसे बहुत बुरा लगा। किसी को उपदेश करने की अपेक्षा उसे काम करके दिखाना ही ठीक लगा। इसलिए अपने काम-काज से जो समय मिलता, उसमें वह गाँव की सफाई आदि किया करता। वह गाँव के रास्ते साफ करता, कूड़ा-कर्कट उठाकर गाँव के बाहर गड्ढे बनाकर डालता, कुँओं में गंदा पानी न जाने पावे, इसलिए नालियाँ बनाता। सड़कों पर पड़े पत्थरों, छिलकों काँटों आदि को एक तरफ कर देता। छोटे-छोटे बच्चे घरों के बाहर सड़कों पर टट्टी बैठ जाते तो वह भी साफ कर देता ताकि उसके कारण गाँव में गंदी हवा न फैलने पावे। लेकिन गाँव के लोग उसके इन लोकोपयोगी कामों की प्रशंसा न कर उसकी मजाक उड़ाने लगे। वे लोग कहते--"बड़ा चला है गाँव की सेवा करने, कभी अकेले से हुई है?" "अजी, वह तो पागल हो गया है— पागल! हमें क्या जरूरत है अपना काम-धंधा छोड़कर दूसरों का काम करने की।" कोई कहता--"अरे, वह तो नाम चाहता है— प्रसिद्धि के पीछे पड़ा है!" अिस तरह उसकी तरह-तरह से लोग मजाक उड़ाने लगे।

किन्तु किसी से प्रोत्साहन और सहयोग न मिलने पर भी उसने अपना कार्य बंद नहीं किया। वह निराश नहीं हुआ। वह जानता था कि उसका काम अच्छा है और सच्चा है तो लोगों को उसका लाभ अवश्य होगा और एक दिन वे इन कामों की प्रशंसा

अवश्य करेंगे। आखिर उसकी निःस्वार्थ सेवा से कुछ तरुण आक-र्षित हुए। उन्होंने देखा कि गाँव के दूसरे लोग अपने अवकाश का समय शराब की दूकान पर या चौपाल में बैठकर गप्पें हाँकने में बिताते हैं। इधर-उधर की बातें करने या व्यसनों से घर-गृहस्थी के काम तो ठीक से होते ही नहीं, आपसी झगड़े और मुक-द्दमे होते रहते हैं। इनसे तो बेचारा मघ अच्छा जो अपने समय को अच्छे कामों में लगाता है। न किसी से कुछ माँगता है और न किसी का कुछ बिगाड़ करता है। उन तरुणों ने उसका साथ देना निश्चित कर लिया। तीस तरुण मघ के साथी बन गए। वे सब मिलकर गाँव की सेवा करने लगे।

इस तरह जब उनकी शक्ति बढ़ गई तब उन्होंने अपना कार्य-क्षेत्र भी बढ़ा दिया। उन्होंने पंगु और अनाथ लोगों के लिए आश्रम बनाया, आस-पास के गाँवों के रास्ते साफ किए। नदी-नाले पार करने के लिए छोटे-मोटे पुल बनाए तथा पथिकों की सुविधा के लिए तालाब खोदे। उनकी ऐसी सेवा को देखकर लोगों के मन में उनके प्रति आदर उत्पन्न होने लगा। गाँव वाले अब उसकी सलाह लेने लगे और वैसा ही करने लगे। इसमें उन्हें अपनी भलाई दीखने लगी। मघ और उसके साथियोंने जनता को व्यसनों से तथा एक दूसरे की निंदा और गप्प-बाजी की बुराइयों से होनेवाली हानियाँ बताईं और एकता तथा प्रेम का मार्ग बताया। इससे गाँव के तथा आस-पास में रहनेवाले लोग सदाचारी बनने लगे। झगड़े बन्द हो गए और सब मिल-जुलकर आनन्द से रहने लगे। शराब की दूकानें बन्द पड़ने लगीं और जूए के अड्डों पर ताले लग गए। ग्राम-भोजक की आमदनी बंद हो गई। गाँव की व्यवस्था करनेवाले

और झगड़ों का निपटारा करनेवाले तथा न्याय करनेवाले को उस जमाने मे ग्राम-भोजक कहा जाता था। उसकी कमाई तो आपसी झगड़ो से ही होती थी। जब सब लोग आनन्द और प्रेम से रहने लगे तब उसकी आमदनी कम होने ही वाली थी।

इससे ग्राम-भोजक चिन्ता मे पड़ गया। उसे जब मालूम हुआ कि मघ और उसके साथियो के कारण गाँव के झगड़े बंद हो गए और इसी से उसकी कमाई कम हो गई है, तब वह क्रोधित हो उठा। मनुष्य के लोभ और स्वार्थ पर जब संकट आता है, तब वह विवेक खो बैठता है। ग्राम-भोजक ने मघ और उसके साथियों को दण्ड देने का उपाय खोजा। वह राजधानी मे गया और बड़ा भारी नजराना देकर राजा से मुलाकात की। राजा ने उससे उसके अधीन प्रदेश का हाल-चाल पूछा।

उसने कहा—"राजन्! क्या बताऊँ? हमारे प्रदेश मे कुछ डाकुओं तथा उनके मुखिया मघ ने बहुत ही उपद्रव मचा रखा है। सब लोग उनके डर से गाँव छोड़कर भाग रहे हैं। व्यापारी भी उधर नही आ रहे हैं। इससे रोजगार-धंधा भी बद हो रहा है। लोग दुखी और भयभीत है।"

ऐसी बातें सुनकर राजा को बहुत सन्ताप हुआ। उसने कहा—"अच्छा हुआ जो तुमने ये बातें बतला दीं। मैं तुम्हारे साथ कुछ सेना देता हूँ। उन सब डाकुओं और उपद्रवियो को पकड़ लाओ और मेरे सामने हाजिर करो।"

सेनाकी मदद से ग्राम-भोजक ने मघ तथा उसके साथियो को पकड़ लिया। उन्होंने कुछ भी प्रतिकार नहीं किया। एक

छोटा-सा बालक भी यदि राजा की आज्ञा से पकड़ने आता तो वे इन्कार नहीं करते। बापूजी तथा दूसरे कांग्रेसवाले भी तो इसी तरह वारंट देखकर जेल जाते रहे हैं ! जो सच्चा और सेवक होता है वह कभी भी न तो डरता है और न आना-कानी करता है। हाथ-पैरो में वेड़ियाँ डालकर सिपाही उन्हें राजधानी में ले गए। ग्राम-भोजक ने इसकी सूचना राजा के पास पहुँचा दी।

राजा विलासी और आरामी था। उसे इतना अवकाश कहाँ था कि वह उन लोगो से परिचय पाकर न्याय करता। उसने भीतर से ही हुक्म छोड़ दिया कि "डाकुओं को चौक में औंधे लिटाकर उनपर मत्त हाथी फिरा दिए जायँ।"

उन्हे बाँधकर उल्टा सुला दिया गया और एक मस्त हाथी उनपर छोड़ने के लिए वहाँ लाया गया।

इस संकट के अवसर पर मघ बिलकुल शांत रहा। उसने अपने साथियों से कहा—"मित्रो, हमारा अब तक का समय अच्छे कामों में ही बीता है। हमने स्वप्न में भी किसी की बुराई नहीं की है। फिर भी यह संकट हमपर आ रहा है। इससे कुछ के मन मे यह विचार उठ सकता है कि अच्छे काम करने और सदाचार से जीवन बिताने पर भी हमपर यह संकट कैसे आ पड़ा ! लेकिन साथियो, ऐसा विचार मन में लाना ठीक नहीं है। संकट हमारे अच्छे कामों की कसौटी होते हैं— वे परीक्षा के लिए ही आते हैं। ऐसे समय संकटों को धीरज से सहन करना हमारा कर्त्तव्य है। एक दिन मरना तो सबको है। हम भी एक-न-एक

दिन मरेंगे। मृत्यु टलनेवाली तो है नहीं, फिर उससे भयभीत होने की क्या जरूरत है? और हम अपने विचारों को भी दूषित क्यों करें? इस लोक में सदा न्याय ही नहीं मिला करता। हम सब कर्मों से बँधे हैं। उनसे हम तभी छूट सकते हैं जब उनका फल प्राप्त कर लेंगे। हमारे कर्म ही रक्षक और न्यायाधीश हैं। मौत के समय यदि हमारे विचार दूषित या कलुषित रहे तो परिणाम बहुत बुरा होगा। व्याकुलता या क्रोध से मृत्यु होनेपर अगले जन्म में नीच गति मिलती है। ऋषि-मुनियों ने ऐसा ही कहा है। इस लिए मेरा अनुरोध है कि हमें प्राणी-मात्र के प्रति मैत्री-भावना दृढ़ करनी चाहिए। हम स्वयं अपने पर, अपने कुटुम्बियों, साथियों और मित्रों पर जैसा प्रेम रखते हैं, वैसा ही इस समय अपने विरुद्ध फरियाद करनेवाले ग्राम-भोजक, मृत्यु की आज्ञा देनेवाले राजा और हम पर छोड़े जानेवाले हाथी पर हमारा प्रेम रहना चाहिए। शत्रु-मित्र, अपना-पराया आदि भेदों को भूल जाइए। जिस प्रकार शरीर में हाथ-पैर आदि अनेक अवयव होते हैं वैसे ही सारे प्राणी एक संसार के भिन्न-भिन्न अवयव हैं। अपने किए हुए अब तक के सत्कृत्यों का पुनरावलोकन करो। जान-अनजान में कभी किसीका कुछ अपराध बन पड़ा हो तो मन में उससे क्षमा माँगो और पश्चात्ताप करो।"

सब साथियोने मघ की बात को बड़े ध्यान से सुना और वैसा ही किया। वे मानने लगे कि ये लोग इस नश्वर जगत् से मुक्त कर हमपर बड़ी करुणा कर रहे हैं।

जब हाथी उनके समीप लाया गया तब उन्होंने शुद्ध मन से उसपर प्रेम-दृष्टि डाली। इसका हाथी पर बहुत असर हुआ। वह गम्भीर आवाज करके पीछा लौट गया। फिर हजार प्रयत्न करने पर भी आगे नहीं बढ़ा। जब वह आगे नहीं बढ़ा तो दूसरा लाया गया, तीसरा लाया गया, फिर चौथा लाया गया, लेकिन पहले के समान सब हाथी जड़ बन गए—उन सबने महावत के अंकुश और भय की कोई परवाह नहीं की।

जब राजा को यह बात मालूम हुई तब उसका क्रोध और भी बढ़ गया। उसने सोचा कि हो न हो उन लोगों के पास ऐसी कोई जड़ी-बूटी होनी चाहिए जिसकी सुगंध या प्रभाव से हाथी उनपर नहीं जाता या फिर वे जादूगर हैं! उसने उन्हें बुलाया और सबकी नंगा-झोली (तलाशी) ली। लेकिन उनके पास तो कुछ था ही नही! आखिर राजा ने उनसे पूछा ही कि—"तुम लोगों को कोई मंत्र सिद्ध है, इसी लिए हाथी तुमपर नहीं चल सका। सच बात क्या है, बताओ?"

मघ ने उत्तर देते हुए नम्रता पूर्वक कहा—

"राजन्! हम लोगों ने कभी किसी की बुराई नहीं की और सदा पंच-शील का पालन करते रहे। जान-बूझकर किसी प्राणी का घात नहीं किया, न किसी की वस्तु का अपहरण किया, दूसरो की स्त्रियों को माँ-बहन मानते आए, न कभी झूठ व्यवहार किया है। व्यसनो से भी हम दूर ही रहे हैं। यथाशक्ति हम लोगों ने सेवा ही की है और शत्रु-मित्र के भेद-भावसे दूर रहकर सबसे प्रेम ही किया है। यही हमारा मंत्र है। इस मंत्र के प्रभाव से ही शायद हाथी हम पर नहीं चला होगा।"

राजा को ऐसा लगा कि मघ और उसके साथी निर्दोष होने चाहिए। क्योंकि उन सब के चेहरों पर असीम शान्ति झलक रही थी। फिर भी राजा ने मघ के गाँव को एक दूत भेजकर जाँच करवाई। जाँच से यह बात स्पष्ट हो गई कि गाँव मघ की सेवा के कारण बहुत सुखी और शील-सम्पन्न हो गया है, आपसी झगड़े मिट गए हैं और सब प्रेम से रहते हैं। अब तो राजा को झूठी बात जानकर अपना स्वार्थ साधनेवाले ग्राम-भोजक पर बहुत क्रोध आया और उसे सूली पर चढ़ाने का हुक्म दे दिया।

लेकिन मघ को यह बात अच्छी नहीं लगी। उसने कहा— "इस ग्राम-भोजक के हमपर बहुत उपकार है कि हम आपके दर्शन पा सके और अपने व्रत की परीक्षा दे सके। ये तो हमारे मित्र है। हमारी प्रार्थना है कि आप उन्हें मुक्त कर दें।"

राजा ने मघ की बात स्वीकार कर ली। मघ की निःस्वार्थ और सच्ची सेवा का जनता पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि सारा राष्ट्र सुधर गया और लोग जन-सेवा करने लगे।

इस समय अपने देश मे भी महात्मा गांधीजी मघ जैसा कार्य कर रहे हैं। लोग उनके बारे में तरह-तरह की बातें करते हैं, उन्हें दोष देते हैं, फिर भी वे अपना कार्य करते चले चल रहे हैं। वे अंग्रेजो को यहाँ से चले जाने को कहते हैं, किन्तु उन्हें अपना मित्र भी मानते है। सच बात तो यह है कि हमे बुराइयों, बुरे व्यसनो के प्रति घृणा होनी चाहिए, व्यक्ति के प्रति नहीं।

परिस्थिति और संगति के बदलने पर एक ही आदमी अच्छा भी बन जाता है और बुरा भी। पुराणों में जीवन के उत्थान-पतन की हजारो कहानियाँ हैं।

तो, ऐसा यह सत्याग्रही और सेवक मघ जन-सेवा करने से आगे चलकर गौतम बुद्ध हुआ। गौतम बुद्ध की कहानी तुम पढ़ ही चुके हो।

—रिषभदास के प्यार

: १० :

अब्राहम लिंकन

प्यारे राजा बेटा,

आज तुम्हें अमेरिका के एक महापुरुष की कहानी लिख रहा हूँ। उसने अमेरिका पर से गुलामी के कलंक को दूर कर मानव-जाति की बहुत बड़ी सेवा की है। यह कितना बड़ा काम था? यह समझने के लिए अमेरिका की कुछ बातें बतलाता हूँ। इनसे तुम समझ जाओगे कि गुलामी के कारण मनुष्य को कैसा-कैसा कष्ट दिया जाता था।

पहले यूरोपवाले अमेरिका को नहीं जानते थे। पन्द्रहवीं शताब्दी में कोलम्बस नामक एक अंग्रेज इंगलैंड से हिन्दुस्तान के लिए निकला। यूरोपवाले उस समय आज के समान धनी नहीं थे। इसलिए साहस करके वे लोग धन कमाने के लिए प्रवास किया करते थे। पोर्तुगीज, डच, अंग्रेज तथा फ्रेंच लोग पन्द्रहवीं शताब्दी से प्रवास पर निकलने लगे। उस समय स्वेज नहर नहीं थी। इसलिए बड़े लम्बे रास्ते से भारत आना पड़ता था। अफ्रीका के किनारे-किनारे महीनों की यात्रा के बाद भारत पहुँचना होता था। कोलम्बस ने दूसरे मार्ग से हिन्दुस्तान में आने का विचार किया।

वह उत्तरी मार्ग से निकल पड़ा। लम्बी यात्रा के बाद वह अमेरिका पहुँचा। यूरोपवाले अब यहाँ आकर बसने लगे। यह भूखण्ड सम्पन्न और बसने के योग्य था।

उस समय अमेरिका में लाल-रंग के लोग रहते थे। ये रेड इंडियन कहलाते थे। यूरोपवाले उन्हें मार-मार कर जंगलों में भगा देते और बस्तियाँ बसा कर रहने लगते। लेकिन जंगलों को काट कर खेती करने या बस्ती बसाने में बड़े परिश्रम की जरूरत थी। मजदूर नहीं मिलते थे। आखिर उन्हें उपाय सूझा और अफ्रीका के किनारे से हब्शियों को पकड़ कर उन्हें गुलाम बनाया जाने लगा। इन्हें गुलाम पशुओं की तरह बेचा जाता। इनसे कोड़े मार-मार कर काम लिया जाता। काम कम होने या अच्छा नहीं होने पर कोड़े लगाए जाते, खून की धारा बहने लगती। कभी-कभी तो बेचारों की जान भी ले ली जाती। उस समय वहाँ ऐसी सजा देना जायज (उचित) माना जाता था और चौराहों पर कोड़े लगाने के स्थान बने हुए थे।

गुलाम जब एक मालिक से दूसरे मालिक को बेचे जाते, तब गुलाम परिवारों की बड़ी बुरी दशा होती थी। पति एक को बेचा जाता, पत्नी दूसरे को बेची जाती, बच्चे किसी तीसरे को बेचे जाते। सचमुच गुलामों की दशा पशुओं से भी बदतर होती है। जानवरों की तरह ही उन्हें सड़ा-गला खाने को दिया जाता और पशुओं के स्थान पर ही वे रहते।

इन अत्याचारों को देखकर जिनमें थोड़ी-बहुत मनुष्यता या दया होती, वे व्याकुल हो जाते। लेकिन स्वार्थ ऐसा होता है कि

मनुष्य उसके सामने न्याय, अन्याय सब भूल जाता है। गुलामों का व्यापार करनेवाले और उनसे खेती-बाड़ी का काम करानेवाले चाहते थे कि यह प्रथा बन्द न हो। अमेरिका उत्तर और दक्षिण ऐसे दो भागों मे बँटा है। दक्षिणवासी इस प्रथा के पक्ष में थे। क्योकि उनके विशाल भूखण्ड में कसकर काम करने के लिए गुलामों से बढकर दूसरे कौन मिल सकते थे!

ऐसी गुलामी को नष्ट करने का प्रयत्न जिस महापुरुष ने किया, उसका नाम अब्राहम लिंकन था। यह अमेरिका का सोलहवाँ प्रेसीडेंट यानी अध्यक्ष था।

लिंकन का जन्म गाँव से दूर एक खेत में हुआ था। वहीं एक छोटी झोपडी मे उसके माता-पिता रहते थे। कड़ाके की ठण्डी में उनके पास ओढ़ने-बिछाने के लिए पूरे कपड़े तक नहीं थे। लिंकन के माता-पिता बहुत गरीब थे। बेचारे मेहनत-मजदूरी करके अपना गुजारा करते। पढ़े-लिखे तो वे थे ही नहीं। लिंकन जब आठ वर्ष का हुआ तब उसकी माँ मर गई। बेटा, दुनिया मे सब से ज्यादा कीमती चीज़ माँ का प्यार है। माँ का प्यार पाकर आदमी सब दुख भूल सकता है। लिंकन के पिताने अब दूसरी शादी की। प्रायः देखा जाता है कि सौतेली माँ से बच्चो को बहुत दुख और कष्ट मिला करता है। सौतेली माताएँ पहले के बच्चो से डाह किया करती हैं। लेकिन लिंकन को सौतेली माँ से बहुत प्यार मिला। वह लिंकन को खूब चाहती थी। उसी ने उसे पढ़ने के लिए उत्साहित किया।

लिंकन के पिता अच्छे स्थान की खोज में एक प्रांत से दूसरे प्रांत में इधर-उधर भटकता ही रहा। लिंकन अपनी २१ वर्ष की उम्र तक हल जोतने, झाड़ काटने, जमीन खोदने, बोझा ढोने जैसे मेहनत-मजदूरी के काम करता रहा। बाद में वह किसी किराने की दूकान में काम करने लगा। वहाँ उसे पढ़ने का अच्छा मौका मिला। उस समय आज के समान पुस्तकें सुलभ नहीं थी। वह दूर-दूर से पुस्तकें माँग कर लाता और पढ़ता। वह पुस्तकें यों ही ऊपर-ऊपर से नहीं पढ़ता था। जो कुछ पढ़ता उस पर गहराई से विचार करता। एक बार उसने दूकान के लिए कुछ रद्दी खरीदी। किराने की दूकान में सामान देने के लिए रद्दी की तो खास जरूरत होती है। उस रद्दी में उसे कुछ कानून की पुस्तकें मिल गईं। वह उन्हें पढ़ने लगा। कानून की पुस्तकों में उसे इतनी रुचि हो गई कि उसने निश्चय कर लिया कि वकील बनना चाहिए। पढ़ने में उसने काफी परिश्रम उठाया और अन्त में वकीली की परीक्षा देकर वह वकील बन गया।

वकील बनने पर लिंकन ने स्प्रिंगफील्ड में वकालत शुरू की। जब वह स्प्रिंगफील्ड में आया तब उसके पास पूँजी के नाम एक थैली थी, जिसमें उसकी पुस्तकें और पहनने के कुछ कपड़े थे। उसने जॉन स्टुअर्ट के साझे में वकालत शुरू की। यद्यपि ये दोनों साझीदार वकालत करते थे लेकिन उसका चित्त राजनीति की ओर झुका हुआ था। इसीलिए वह सन् १८३८ और १८४० में प्रांतीय धारा सभा का सदस्य चुना गया।

इन्ही दिनो मेरी टॉड से उसका परिचय हुआ और कुछ दिनो बाद उनका सम्बन्ध स्थापित हो गया। लेकिन दोनो के स्वभाव आपस मे नही मिलते थे। मेरी दिखावा-प्रिय, ईर्ष्यालु और सत्ता-लोलुप थी और लिंकन परिश्रमी, दिखावे से दूर, सादगी-प्रिय था। जब इन दोनो के विवाह का निश्चय हुआ, तिथि निश्चित हो गई और मेरी के घर पर उत्सव मनाया जा रहा था तथा मेहमान एकत्रित थे, तब लिंकन का पता नही था। विचार तथा स्वभाव की भिन्नता के कारण लिंकन उससे विवाह नहीं करना चाहता था। वह इस विवाह से डरने लगा और आत्महत्या तक का विचार उसने कर लिया। यह सन् १८४० की घटना है। लेकिन दो वर्ष के बाद ऐसा योगायोग आया कि उसका मेरी के साथ ही विवाह हुआ। मेरी के कारण लिंकन की गृहस्थी सुख-शांतिमय न हो सकी। मेरी लिंकन के शात स्वभाव की कसौटी बन गई। जिस तरह साक्रेटीस के लिए झेथापि, तुकाराम के लिए जीजाबाई थी वैसे ही लिंकन के लिए मेरी थी। फिर भी लिंकन ने उस के साथ शाति से जीवन-यापन किया। महापुरुषो की विशेषता इसी में रहती है कि वे विपरीत या प्रतिकूल परिस्थितियो में भी अपना काय और विकास करते रहते हैं।

लिंकन को अपनी पत्नी के कारण बहुत कुछ दुख सहन करना पड़ा। स्प्रिंग-फील्ड मे वकालत के दिनो मे तो उसने कष्ट दिया ही, लेकिन अमेरिका का प्रेसीडेंट बनने पर भी वह बड़े-बड़े लोगो के सामने उसका काफी अपमान किया करती। लेकिन लिंकन बहुत सहन-शील था। उसने उससे कभी भी कुछ नहीं कहा। लिंकन की यह खास विशेषता थी कि किसी की गल्ती पर वह कभी भी कुछ

न कहता, लेकिन अच्छा कार्य होने पर बहुत उत्साह दिया करता । उसका यह स्वभाव अत तक बना रहा। इसी लिए लिंकन के बारे में कहा जाता है कि "वह सबका मित्र था, शत्रु किसी का भी नहीं।"

गुलामी के अत्याचारो को देखकर उसका कोमल हृदय पिघल गया और उसने निश्चय किया कि वह गुलामी को नष्ट करने मे पूरा प्रयत्न करेगा। मौका मिलने पर उसने धारा-सभा में गुलामी के विरुद्ध बहुत जोरदार आवाज उठाई। वह कहा करता कि 'यह राष्ट्र आधा गुलाम और आधा स्वतन्त्र कभी नहीं रह सकता।'

सन् १८६० में रिपब्लिकन पार्टी ने उसे प्रेसीडेंट के लिए अपना उम्मीदवार चुना। वह प्रेसीडेंट चुन लिया गया। प्रेसीडेंट चुने जाने पर जब वह पद-ग्रहण के लिए राजधानी जाने लगा तब अपनी सौतेली माँ से मिलने गया। उसने कहा, "बेटा, मै नहीं चाहती कि तुम प्रेसीडेंट बनकर राजधानी जाओ, क्योंकि मुझे डर है कि लोग कहीं तुम्हारी जान के दुश्मन न बन जावे।" अन्त में यही हुआ। लिंकन जैसे महापुरुष की मृत्यु एक हत्यारे की गोली से हुई।

उसके प्रेसीडेंट बनने के थोड़े दिनो बाद ही उत्तर और दक्षिणवालों में गुलामी के प्रश्न को लेकर गृह-युद्ध छिड़ गया। यह एक भयानक गृह-युद्ध था, जिसमें लाखो लोग मर गए। भाई-भाई मे होनेवाली यह लड़ाई बड़ी भयानक थी। गृह-युद्ध के चार वर्षों में लिंकन को जो श्रम करना पड़ा, चिंता करनी पड़ी, उसका उसके शरीर पर बहुत बुरा परिणाम हुआ। लेकिन बड़े धीरज के

साथ विरोधियो के बीच काम कर उसने विजय प्राप्त की और गुलामी को नष्ट किया।

दूसरे चुनाव मे भी वह प्रेसीडेंट चुना गया। लड़ाई बन्द हो गई। उत्तरवाले विजयी हुए। उत्सव हो रहे थे। उसकी पत्नी ने नाटक देखने का कार्य-क्रम बनाया। वे नाटक देखने गए। वहाँ जॉन विल्कि बूथ नामक व्यक्ति ने गोली चलाकर लिंकन को मार डाला। समार की एक महान आत्मा का इस तरह करुण अन्त हुआ। हर महापुरुष की अमरता ऐसी मृत्यु मे है। अपने व्यक्तिगत जीवन मे लिंकन ने किसी की बुराई नही की। लेकिन गुलामी नष्ट करने के कारण उनसे कुछ लोग नाराज हो गए थे और इसी लिए उनकी हत्या हुई। जो मौत से नहीं डरते वे ही दुनिया का भला करते है। मौत से डरनेवाला अपना भी भला नही कर सकता।

लिंकन सचमुच महापुरुष थे। उनके बचपन की एक घटना लिखता हूँ। इससे उनके विशाल हृदय का पता लगता है।

जब उसे पढने का शौक लगा तब वह दूर-दूर से पुस्तकें लाकर पढा करता। एक बार कोई पुस्तक खराब हो गई। इसका उसे बहुत दुख हुआ। पुस्तक के मालिक के पास लाकर उसने सारी बात कह दी। उसने कहा कि, "मेरे पास पैसे नहीं हैं, इसलिए मुझसे पुस्तक की कीमत की मजदूरी करवा लीजिए।" तीन दिन मजदूरी करके उसने नुकसान की पूर्ति कर दी।

बेटा, जिन्हे अपनी जिम्मेदारी का खयाल होता है, वे ही आगे चलकर बडे बनते है। बड़े होनेपर तुम अंग्रेज और अमरीकन

लेखकों के लिखे हुओ अब्राहम लिंकन के विविध चरित्र और संस्मरण पढ़ना। उनसे तुम्हें बहुत बातें सीखने को मिलेंगी।

बड़े होनेपर भी उनमें अहंकार नहीं था। सेवा करने में उन्हे बड़ा आनन्द आता था। वे एक साधारण कुल में पैदा हुए और अपने सदाचार और सद्विचार से अमेरिका के पिता बन गए। सदाचार और सद्विचार से ही जीवन बनता है।

—रिषभदास के प्यार

: ११ :

महात्मा टाल्स्टाय

प्यारे राजा बेटा,

आज मै तुम्हे महात्मा टाल्स्टाय की कहानी लिख रहा हूँ इनकी कहानियाँ तुम चाव से सुनना चाहते हो न ! मूर्खराज, प्रेम में भगवान्, भगवान् सचाई देखता है, लेकिन धीरज रखो, धर्म-पुत्र आदि बहुत अच्छी कहानियाँ हैं। टाल्स्टाय बहुत बड़े विद्वान् और महात्मा हो गए है। उनका चरित्र तुम जैसे बालको को जरूर पढ़ना चाहिए।

टाल्स्टाय का पूरा नाम काउण्ट लियो टाल्स्टाय था। इनका जन्म रूस देश मे टूला के पास यासनाया पोलयाना ग्राम मे ता० २८ अगस्त सन् १८२८ को हुआ था। उनके पिता का नाम काउण्ट निकोलस टाल्स्टाय और माता का प्रिंसेज़ मेरी बालकन्सकी था। टाल्स्टाय के माता-पिता उच्च घराने के थे और इनका वंश रूस के इतिहास में प्रसिद्ध है। 'काउण्ट' टाल्स्टाय की वंश की उपाधि थी। केवल १४ महीने की अवस्थामे ही टाल्स्टाय की माँ का देहान्त हो गया और ९ वर्ष की उम्र में पिता भी चल बसे। टाल्स्टाय: चार भाई थे। इनके एक भाई का नाम निकोलस था। इन दोनो के विचार एक-से थे। ये ज़मीदार घराने के बालक थे। उस समय ज़मीदार लोग अपने गुलामो के साथ बहुत ही निर्दयता

और कठोरता का व्यवहार करते थे। यह जोर-जुल्म देखकर टाल्स्टाय के कोमल हृदयपर गहरा असर हुआ। छोटी उम्र में ही दोनों भाइयोंने विश्व-बंधुत्व नाम की एक आदर्श संस्था की कल्पना की और इसकी स्मृति में एक पहाड़ी पर एक हरी डाली रोप दी। माता-पिता के देहान्त होने पर टाल्स्टाय का पालन-पोषण टटियाना यरगोल्स्की नामक महिला ने किया। यह बहुत ही सदाचारिणी, उदार और पवित्र विचार की थी। टाल्स्टाय में जगत् के प्रति प्रेम उत्पन्न करने में इस देवी का बहुत बड़ा हाथ था। दोनों भाइयोंने मिलकर भाई-चारे की जो संस्था स्थापित की थी उसका नाम था 'आंट ब्रदर्स'। इस संस्था का उद्देश्य संसार के लोगो में भाई-चारा फैलाना था।

पढ़ाई के लिए टाल्स्टाय को काजन के विश्व-विद्यालय में भेजा गया। उनके भाई भी साथ थे। वहाँ टाल्स्टायने पूर्वी देशों की भाषा सीखने का प्रयत्न किया, फिर कानून पढ़ना शुरू किया। लेकिन उनका मन नहीं लगा। वे कालेज छोड़कर चले गए। फिर वे पेट्रोग्रेट गए। वहाँ वे बुरी संगति में फँस गए। बुरे व्यसन लग गए। सेना में भरती होकर कई लड़ाइयाँ लड़ी और हत्याएँ कीं। लेकिन बचपन में अच्छाई के जो अंकुर उनमें उग आए थे वे समय-समय पर उन्हें सावधान रहने का संकेत करते रहते थे। बुराई के काम करते समय भी वे विचार करते थे। उनके मन में अच्छाई-बुराई के विचारों का झगड़ा चलता रहता था। सेबस्टीपोल की भयंकर लड़ाई में २२ हजार हताहतों को अस्पताल में कष्ट सहते देखकर उनके मन में भी अशोक की तरह हिंसा के प्रति घृणा पैदा

हो गई। वहाँ से वे पीटर्सबर्ग चले गए। सन् १८५७ में वे यूरोप-यात्रा पर निकल पड़े। पेरिस में उन्होने एक आदमी को फाँसी पर लटकाते हुए देखा। इस हृदय-विदारक दृश्य से उन्हें बहुत धक्का लगा और वे प्राण- दण्ड की प्रथा के विरोधी हो गए। १८६० ईस्वी में उनके बड़े भाई का देहान्त हो गया।

इस तरह हिंसा, युद्ध और अत्याचार तथा दुर्व्यसनों की बुराइयों से दूर हटकर वे अब साहित्यिक क्षेत्र में आ गए। उन्होंने बहुत ही अच्छी-अच्छी पुस्तकें लिखीं। उनका पहला उपन्यास 'बचपन' था। टाल्स्टाय के अक्षर साफ-सुथरे नहीं होते थे। अपने यहाँ बापू के अक्षर भी कहाँ अच्छे होते हैं! लेकिन टाल्स्टाय की स्त्री के अक्षर बहुत साफ होते थे। वह पढ़ी-लिखी और उच्च घराने की महिला थी। प्रेस में देने के लिए रचनाओं की कापी उनकी स्त्री ही किया करती थी। उनकी स्त्री का नाम सोफिया बेहर्स था। इनका विवाह सन् १८६२ में हुआ था। साहित्यिक क्षेत्र में आने पर उन्होंने कई पुस्तकें लिखीं। उनकी पुस्तकों की धूम जर्मनी, फ्रांस, इंगलैंड में मच गई।

सन् १८६१ में रूस के किसान गुलामी से मुक्त हुए थे। उनकी शिक्षा के लिए टाल्स्टाय ने स्कूल खोल दिए। प्रारंभिक शिक्षा कैसे दी जाय, इसका अध्ययन करने के लिए वे फ्रांस, जर्मनी और इंगलैंड गए थे। लेकिन उनकी स्कूलें चल नहीं सकीं—क्यों कि सरकारी अधिकारी यह आज़ादी पसंद नहीं करते थे। टाल्स्टायने तो अपनी स्कूलों में विद्यार्थियों को पूरी स्वतन्त्रता दे रखी थी।

अब मैं तुम्हें रूस देश का थोड़ा-सा परिचय दूँगा। इससे तुम्हें टाल्स्टाय के विचारों और कार्यों को समझने में मदद मिलेगी।

रूस में आजकल मजदूरों का राज है। वहाँ का धनवान गरीबों का शोषण नहीं कर सकता। कार्य करनेवाली पंचायतें ही देश का शासन चलाती हैं। वहाँ बेकार और आलसी कोई नहीं रह सकता। अपने यहाँ तो एक ओर जहाँ गरीबों और काम करने वाले मजदूरों को भर-पेट खाने को अनाज और पहनने को पूरा कपड़ा भी नहीं मिल पाता, वहाँ दूसरी ओर इन मजदूरों के पसीने की कमाई से मालामाल होने वाले व्यापारी और धनवान लोग ज्यादा खा-पीकर बीमार होते हैं, आलसी बनकर पड़े रहते हैं और शान-शौकत में धन बरबाद करते रहते हैं। लेकिन रूस में ऐसा नहीं है। वहाँ तो हरएक आदमी को मेहनत करनी पड़ती है। वहाँ का प्रत्येक व्यक्ति अपने को देश की सम्पत्ति समझता है। सरकार की ओर से भी प्रत्येक को उसके विकास का पूरा मौका मिलता है। सबकी पढ़ाई, बीमारी और शरीर से काम नहीं हो सकने की हालत में खाने-पीने की व्यवस्था सरकार की तरफ से रहती है। इसलिए रूस की प्रजा बहुत सुखी और कर्त्तव्य-परायण है। लेकिन यह सब कैसे हुआ?

यह सुधार सन् १९१७ की क्रान्ति के बाद ही हुआ है। इसके पहले यहाँ के समान ही वहाँ भी गरीब-अमीर का भेद था। किसान बहुत दुखी थे। मजदूर कष्ट में थे। वहाँ का शासक जार था। जारशाही में ये तकलीफें बहुत बढ़ गई थीं। आखिर जब लोगों का

दुख असह्य हो उठा और ज़ारशाही के अत्याचार बहुत बढ़ गए तब क्रांति शुरू हो गई। ज़ारशाही खतम कर दी गई और देशपर मजदूर तथा किसानों ने अपना अधिकार कर लिया।

ये लोग नए समाज की रचना करनेवाले थे। देशके पूँजीपति तथा पढ़े-लिखे लोग इनके खिलाफ ही थे। दूसरे देशों के शासक भी यह बात नहीं चाहते थे। जिन लोगों के आराम, स्वार्थ, धन आदि पर प्रहार होनेवाला था, वे तो विरुद्ध रहते ही। लेकिन रूसके मेहनती लोगों ने अनेक कष्ट सहकर तथा रात-दिन कार्य करके इस प्रयोग को सफल किया। बड़े-बूढ़ों ही नहीं, बच्चों तक ने इस काम में हाथ बँटाया था।

लोग गुलामी से तो मुक्त हो गए लेकिन देश में जरूरत की चीज़ों की कमी थी। दूसरे देशवाले कोई चीज़ नहीं दे रहे थे। ऐसी स्थिति में लड़कों ने देखा कि अगर हम काम नहीं करेंगे तो हमारी जरूरतें पूरी नहीं होंगी। अतः उन्होंने अपने बाल-संघों द्वारा प्रयत्न शुरू कर दिया। अपनी छुट्टियों का समय खेल-कूद और सैर-सपाटे में न खोकर आवश्यक सामान पैदा करने में जुट गए। वे गाँव का सारा कचरा जमा करते। कपड़े की चिंधियाँ और रद्दी कागज अलग कर देते। इनसे कागज बनाया जाता। बाकी कूड़े-कचरे का खाद बनाया जाता। वे खेतों में जाकर कार्य करते। कारखानों में भी वे अवकाश के समय खुशी से काम करने को जाते। उन्होंने समझ लिया था कि यह देश हमारा है और इसकी उन्नति के लिए हमें प्रयत्न करना ही चाहिए। दूसरों के भरोसे रहकर कभी उन्नति नहीं हुआ करती। इतना आत्म-विश्वास रखकर और प्रयत्न करने पर ही वर्षों के बाद रूस तरक्की कर सका है। आज उस

देश में किसी चीज़ की कमी नहीं है और सब सुखी हैं। अगर वहाँ के लोग अपनी जिम्मेवारी को नहीं समझते और अधिकारियों को भला-बुरा कहते रहते या केवल अपने मतलब की बातें करते तो रूस कभी भी तरक्की नहीं कर सकता था।

लेकिन टाल्स्टाय के समय तो वहाँ भयंकर गरीबी और भुख-मरी थी। मजदूर और किसान धनवानों के गुलाम थे। टाल्स्टाय ऐशो-आराम और सैनिक जीवन से निकलकर साहित्य के वातावरण में आए और यहाँ उन्हें जनता की स्थिति और मनोभावों को समझने का पूरा मौका मिला। वे अब धार्मिक बन चले। पास में धन था, लड़के-बच्चे थे, चाहनेवाली पत्नी भी थी। यों उनका जीवन बड़ा सुखी था। लेकिन गरीबों की दशा से वे बड़े चिन्तित और दुखी रहने लगे। वे चाहते थे कि जैसा कुछ बन पड़े गरीबों की सेवा करनी चाहिए। कभी-कभी वे अपना धन भी बाँट देते। लेकिन उन्हें मालूम हुआ कि धन देकर किसीका भला नहीं किया जा सकता। और यह बात सही भी है। देखो न, भगवान् महावीर और बुद्ध राजकुमार थे, सम्पत्ति उनके यहाँ थी। चाहते तो अपना धन देकर वे भी लोगों का भला कर सकते थे। लेकिन उन्होंने सब कुछ छोड़ दिया। वे अपने आचरण और प्रेम से ही भला कर सके। इस समय टाल्स्टाय की अवस्था ५० वर्ष की थी।

सुख-समद्धि के सारे साधन तथा बुद्धि होने पर भी वे संसार से चिपटना नहीं चाहते थे। उनमें वैराग्य का उदय हो गया था। वे अब बेचैन रहने लगे। वे अब रात-दिन सोचने लगे कि —"मैं जी क्यों रहा हूँ ?" "मेरे तथा दूसरे सबके 'अस्तित्व' का कारण क्या है ?" "मेरा जीवन कैसा होना चाहिये ?" "मौत क्या है ?" "मौत से कैसे बचा जा सकता है ?"

इन प्रश्नों का उत्तर पाने के लिये उन्होंने तत्त्व-ज्ञानियों के ग्रन्थ पढ़े, लेकिन सन्तोष नहीं हुआ। अन्तमें वे धर्मकी ओर झुके। श्रद्धासे गिरजा-घर में जाने लगे। बाइबिल पढ़ा करते। उनकी बुद्धि तीक्ष्ण थी। जब उन्हें बुद्धि से समाधान नहीं मिला तो वे श्रद्धा की भूमिका पर आ गए। लेकिन यह अन्ध-श्रद्धा नहीं थी। वे तो जिज्ञासु या उपासक थे। लोगों द्वारा किया जानेवाला बाइबिल का अर्थ उन्हे ठीक नहीं लगा। वे तो स्वयं के जीवन में बाइबिल को उतारना चाहते थे— ईसा के समान निर्मल, पवित्र बनना चाहते थे। सच तो यह है कि उन्हे अपना जीवन सुधारना था, अपनी बुराइयाँ दूर करनी थीं। गहराई से सोचने और देखने पर उन्हें समाज में और शासन में भी बुराइयाँ नज़र आईं। जब उन्होंने बुराइयों के बारे मे कलम चलाई तो पादरियो (धर्म-गुरुओ) और सरकारी अधिकारियों को अच्छा नहीं लगा। उन लोगोने अिस महात्मा को धर्म से बहिष्कृत कर दिया।

दिनोदिन उन्हे धन से, धन की सहायता से घृणा होने लगी। सारे अनर्थों की जड़ धन है। धन मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद की दीवार खड़ी करता है। वे अब स्वयं परिश्रम करने लगे। सादा जीवन बिताने लगे। लेकिन उनकी पत्नी को ये बातें अच्छी नहीं लगी। वह पढ़ी-लिखी तो थी, लेकिन वह त्याग और श्रम की महत्ता को समझ नहीं सकी थी। वह समझती थी कि धन सुखों का साधन है। और टाल्स्टाय तो सारी सम्पत्ति बाँट देना चाहते थे। भिन्न विचारो के कारण पति-पत्नी में कलह होने लगी। आखिर यह भेद यहाँ तक बढ़ गया कि एक बार तो उसने सरकार में दरख्वास्त दे दी कि उसका पति पागल हो गया है और अपनी

स्टेट लुटा देना चाहता हैं। उसे डर था कि इस तरह सम्पत्ति बाँट देने से उसकी सन्तति दरिद्र हो जावेगी। उसे धन से मोह अवश्य था, लेकिन टाल्स्टाय पर प्रेम भी कम नहीं था। वह चाहती थी कि टाल्स्टाय को आराम और इज्जत की जिन्दगी बितानी चाहिए। लेकिन टाल्स्टाय पर तो वैराग्य पूरी तरह छा गया था। चिन्तन से उन्हे जो सत्य प्राप्त हुआ था, उसे वे जीवन में, आचरण में उतारना चाहते थे। इसी की उन्होने कोशिश भी की। वे अपरिग्रही बनकर परिश्रम की जिन्दगी बिताना चाहते थे।

इस तरह विचार करके वे ८०-८२ साल की उम्र में घर से निकल पड़े। उनकी आत्मिक शक्ति का तो पूरा विकास हो गया था पर शरीर तो आखिर शरीर ही था। वह तो अपनी शक्ति के बाहर काम नही ही कर सकता था। वे घर से जब निकले, तब बाहर बर्फ गिर रही थी, सर्दी भयंकर थी। उनके साथ उनका एक सहयोगी भी था। गौतम बुद्ध के साथ जैसे छन्न था, वैसे ही इनके साथ वह साथी था। टाल्स्टाय का यह महाभिनिष्क्रमण इस शताब्दी का एकदम अद्वितीय था, जो बुद्ध और महावीर के महाभिनिष्क्रमण की याद दिलाता है।

टाल्स्टाय का शरीर सर्दी बर्दाश्त न कर सका। स्टेशन पर पहुँचते ही ज्वर चढ़ आया। स्टेशन मास्टर के घर पर उन्हे ठहराया गया। यह समाचार चारों तरफ हवा की तरह फैल गया। अच्छे-अच्छे डाक्टरो ने इलाज किया, पर उन्हे कोई बचा नहीं सका। हजारो लोग वहाँ जमा हो गए। उनकी अंतिम यात्रा में हजारों किसानों ने भाग लिया। वह महान् आत्मा शरीर को त्याग कर विश्व में मिल गई। टाल्स्टाय अमर हो गए। उनकी अन्तिम

संस्कार-क्रिया उसी वृक्ष के पास की गई जहाँ बचपन में विश्व-बन्धुत्व की स्मृति में एक पौधा रोपा गया था। उनकी इच्छा भी यही थी कि उनकी समाधि वहीं बने।

धर्म-गुरुओंने उनकी मृत्यु के बाद भी शत्रुता नहीं छोड़ी। धर्म-गुरुओ ने दाह-संस्कार की प्रार्थना नहीं की।

बापूने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि उनके जीवन पर श्रीमद्राजचन्द्र, रस्किन तथा टाल्स्टाय—इन तीन व्यक्तियो का बहुत असर हुआ है। इस पर से भी सोचा जा सकता है कि टाल्स्टाय कितने महान् विचारक थे। स्टीफन ज्वाइग नामक एक बहुत बड़े और प्रसिद्ध लेखक ने भी टाल्स्टाय पर एक पुस्तक लिखी है।

टाल्स्टाय वास्तव मे गरीबो के हितैषी थे। वे सच्चे धर्मात्मा थे। वे परिश्रम मे विश्वास रखते थे। वे मानते थे कि श्रम और सत्य से ही शोषण रुक सकता है, मनुष्य स्वावलम्बी बन सकता है। जब तक आदमी अपनी जरूरत की चीजो के लिए खुद परिश्रम नही करेगा तब तक अमीर-गरीब का भेद नही मिट सकता और न शोषण रुक सकता है। शोषण के रुके बिना अत्याचार भी मिट नही सकते। और केवल धन की मदद से भी मजदूरी की ओर झुकाव नहीं हो सकता। मजदूरी और श्रम ही सच्चा धर्म है।

टाल्स्टाय एक बहुत बड़े विचारक और लेखक थे। उन्होंने लगभग ५० पुस्तकें लिखी हैं, जिन मे उपन्यास, कहानियाँ, निबंध आदि हैं। बड़े होने पर उनकी रचनाएँ अवश्य पढ़ना।

—रिषभदास के प्यार